संस्कार-परिवर्त्तन एवं व्यवहार-शुद्धि

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व विद्यालय

संस्कार परिवर्तन
और
व्यवहार शुद्धि

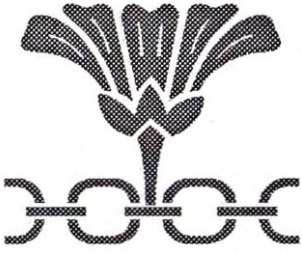

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व विद्यालय
पाण्डव भवन, आबू पर्वत (राज.)

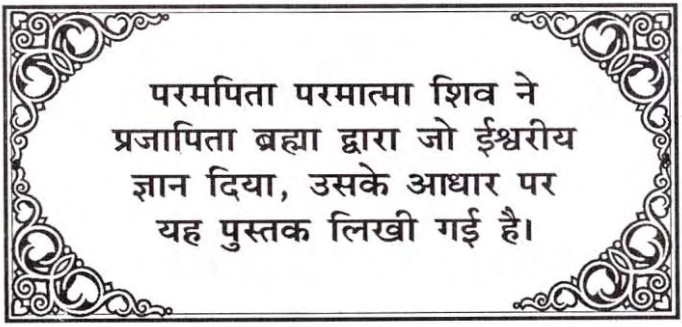

प्रकाशन विभाग :
प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय
विश्व विद्यालय, पाण्डव भवन,
माउण्ट आबू-307501
(राजस्थान)

मुद्रण :
ओम् शान्ति प्रैस,
ज्ञानामृत भवन,
शान्तिवन, तलहटी
आबू रोड़-307026

© **Copyright:** Brahma Kumaris Ishwariya Vishwa Vidyalaya, Mount Abu (Raj.)
No part of this book may be printed without the permission of the publisher.

संस्कार परिवर्तन और व्यवहार शुद्धि

संस्कार ही मनुष्य की मनोदशा को निश्चित करते हैं और संस्कार ही मनुष्य को सुकर्म या विकर्म में प्रवृत्त करते हैं। संस्कार ही मनुष्य को योगाभ्यास में सहायक होते हैं और वे ही, यदि दूषित हों, तो बाधा भी डालते हैं। संस्कारों के वशीभूत हुए मनुष्य न चाहने पर भी कई उल्टे कर्म कर बैठते हैं। इन्हें पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने अर्द्ध-चेतन मन (Sub-conscious mind) की संज्ञा दी है और मनुष्य की प्रवृत्ति का मूल प्रेरक माना है।

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय में दी जाने वाली सारी शिक्षा संस्कार-परिवर्तन ही के लिए है ताकि वे आसुरी से दैवी बन सकें। उसी कार्यक्रम के अन्तर्गत यह पुस्तिका जन-लाभार्थ प्रकाशित की जा रही है।

-- जगदीश चद्र

अमृत-सूची

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ
1.	संस्कारों में परिवर्तन	5
2.	जीवन में परिवर्तन के लिये कुछेक ईश्वरीय युक्तियाँ	11
3.	विकर्मों से बचने की युक्ति	22
4.	अव्यक्त अथवा विदेही अवस्था में बाधक – अलबेलापन और आलस्य	27
5.	विचार-सागर मंथन और रूह-रिहान	41

संस्कारों में परिवर्तन

आज बहुत मनुष्य कहते हैं कि अनेक प्रयत्न करने पर भी हमारे जीवन में खुशी और आनन्द की वृद्धि नहीं होती, संस्कारों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आता, पवित्रता और दिव्य गुणों की धारणा नहीं होती और मन की चंचलता तथा टेढ़ी चाल नहीं छूटती। वे पूछते हैं कि कौन-सी सहज युक्तियाँ हैं जिनको अपनाने से हमारा जीवन अलौकिक बन सकता है और उसमें हम आत्मिक सुख का अनुभव कर सकते हैं?

अब देखा जाय तो ऐसी युक्तियाँ बहुत ही हैं जिनसे कर्मों में श्रेष्ठता और स्वभाव में दिव्यता आ सकती है। परन्तु यदि उनमें से हम निम्न-लिखित चार को भी विशेष रूप से अपनाने का पुरुषार्थ करें तो भी बहुत कल्याण हो सकता है। इनमें से ध्यान देने योग्य एक बात है कि हम स्वयं को **परमपिता परमात्मा का ही बच्चा समझें।** बस, हर समय यही नशा रहे कि – ''मैं तो परमपिता परमात्मा का बच्चा हूँ।''

'मैं प्रभु का हूँ'

आज कोई मनुष्य तो कहता है कि – ''मैं दो बच्चों का बाप हूँ'', कोई कहता है कि – ''मैं तो पंजाब का हूँ'', अन्य कोई समझता है कि – ''मैं अमुक सोसायटी का प्रधान हूँ।'' इस प्रकार, मनुष्य ने स्वयं इतनी लम्बी-चौड़ी उपाधियाँ ले रखी हैं और मन की चंचलता के लिए स्वयं ही बखेड़ा बिखेर रखा है। जैसे एक छोटी-सी मकड़ी स्वयं में से बहुत बड़ा जाला निकाल कर स्वयं ही उसमें फँस जाती है, वैसे ही आज के मनुष्यों की हालत है। आज मनुष्य खुद ही संकल्पों का जाल फैलाते हैं और स्वयं ही उसमें फँस जाते हैं। वे कहते हैं – ''मैं बाल-बच्चों वाला हूँ, मैं गृहस्थी हूँ, मैं तो बड़ा तजुर्बेकार हूँ।'' वे ऐसा ही सोचते हैं कि – ''मैं बेकार हूँ क्योंकि मेरे जीवन में सुख-शान्ति रंच-मात्र भी नहीं है।'' अत:

अभी से लेकर इसी स्मृति में रहना चाहिए कि – ''मैं तो प्रभु का हूँ।'' जब आप स्वयं को प्रभु का समझेंगे तो आप अपने तन, मन और धन को माया **(काम, क्रोधादि विकारों)** के काम में नही लगायेंगे क्योंकि आप सोचेंगे कि प्रभु की वस्तु को माया के कार्य में लगाना तो 'अमानत में ख्यानत' करना है। इस युक्ति से बुरे संकल्पों को रोकने तथा पवित्र बनने में बड़ी सहायता मिलेगी। जिस माया को दुस्तर माना जाता है, उसे इस अस्त्र-शस्त्र द्वारा एक सेकण्ड में जीता जा सकेगा।

आप विचार कीजिए कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सीमा पर सुरक्षार्थ पहरा देता हुआ एक फ़ौजी सिपाही शत्रु को रोकने के लिए अपने प्राणों की भी जो बाजी लगा देता है, उसका कारण क्या है? ''मैं हिन्दुस्तान की तरफ का सिपाही हूँ और हिन्दुस्तान में शत्रुओं को न घुसने देना ही मेरा कर्त्तव्य है'' – यह निश्चय अथवा यह स्मृति ही उसे अपने कर्त्तव्य के लिए प्रेरित करती है। इसी प्रकार, यदि कोई मनुष्य इस निश्चय को अपने जीवन का आधार बना ले कि ''मैं तो प्रभु का हूँ, माया (विकारों) को मन में न घुसने देना ही मेरा कर्त्तव्य है'', तो उसके जीवन में भी पवित्रता अवश्य आयेगी। कार्य-व्यवहार करते हुए यह स्मृति बनी रहे कि – ''मैं तो प्रभु का हूँ'', मैं तो शिवबाबा का बच्चा हूँ, तो ममता और आसक्ति नहीं रहेगी और जीवन में महान् परिवर्तन आ जायेगा।

'मुझे जाना है'

जीवन में आध्यात्मिक परिवर्तन लाने के लिए यह भाव भी स्मृति में रहना चाहिए कि – ''अब तो मुझे जाना है।'' जब किसी मनुष्य के मन में यह संकल्प दृढ़ होता है कि अब तो मुझे गाड़ी पर जाना है तो उसका मन स्टेशन की ओर लग जाता है। इसी प्रकार कोई दुकान पर काम करता हो या किसी दफ्तर में, शाम को जब दुकान या दफ्तर बन्द होने का समय

आता है तो घड़ी देखते ही उसके मन में यही संकल्प बस जाता है कि अब तो मुझे घर जाना है। इसी प्रकार यदि सृष्टि रूपी घड़ी में देखा जाए तो अब कलियुग का अन्त आ चुका है; अब तो अपने घर (परमधाम अथवा परलोक) लौटने का समय है। अत: अब यही धुन सवार होनी चाहिए कि अब तो मुझे जाना है।

जब तक किसी नाव या जहाज का लंगर पड़ा होगा या जब तक वह रस्सी द्वारा तट से बंधा हुआ होगा तब तक नाव या मुसाफिर चलेंगे कैसे और मंजिल पर पहुँचेंगे कैसे? इसी प्रकार, मनुष्यात्माएं मुक्ति के लिए पुकारती तो हैं परन्तु जब तक किसी मनुष्य ने जाने का संकल्प ही नहीं किया है, जब तक उसने बुद्धि का लंगर ही संसार से नहीं उठाया है और जब तक उसका मन कर्म-बन्धनों रूपी रस्सियों द्वारा इस संसार में बंधा हुआ है तब तक वह मुक्ति के पथ पर आगे बढ़ेगा कैसे? अत: मन में यह पक्की धारणा करनी चाहिए कि मुझे तो (परमधाम) जाना है। जब यह स्मृति स्थित हो जायेगी तो ममता मिट जायेगी। संन्यासी लोग योग-वशिष्ट सुनाकर लोगों को वैराग्य दिलाते हैं। उसकी बजाए यदि यह धुन सवार हो जाए कि 'मुझे तो अब परमधाम जाना है', तो मोह नष्ट हो जाएगा और आचरण श्रेष्ठ हो जायेंगे।

पहली बार जब अन्तरिक्ष यात्री अन्तरिक्ष में गये तो समाचार-पत्रों में यह समाचार छपा था कि "अमेरिका ने राकेट द्वारा दो व्यक्तियों को अन्तरिक्ष यान (Space-Ship) से ऊपर अन्तरिक्ष में भेजा है।" वे दोनों अन्तरिक्ष यात्री चार दिनों तक ऊपर, अन्तरिक्ष में चक्कर लगाते रहे। उन्होंने जो अनुभव सुनाये हैं, उनसे यह भी सिद्ध होता है कि उनको यह तो याद रहा ही कि –"हम नीचे (पृथ्वी) से यहाँ अन्तरिक्ष (Space) में आये हैं और आखिर हमें लौटकर वापिस पृथ्वी पर ही जाना है; यहाँ तो

हम दो-चार दिन किसी कार्य-वश आये हैं परन्तु बाद में तो हमें लौटना ही है।'' इसी प्रकार हम मनुष्यात्माओं को भी यह स्मृति रहनी चाहिए कि – ''हम तो परमधाम से इस सृष्टि रूपी कर्मक्षेत्र पर आये थे, अब तो हमें वापिस परमधाम लौट जाना है। जो ऊपर अन्तरिक्ष यान (Space-Ship) में जाते हैं, वे देह-सहित ही वापस पृथ्वी पर लौटते हैं परन्तु हमें तो अब यह ज्ञान है कि हम तो देह-रहित परमधाम से आये थे और देह-रहित ही हमें लौटना है; देहरूपी वस्तु तो हमने यहाँ ही धारण किया था।'' यदि यह बात याद रहे तो मनुष्य का जीवन न्यारा और प्यारा बन सकता है, उसमें परिवर्तन आ सकता है।

मुझे न्यारा और प्यारा बनना है

वास्तव में आध्यात्मिक पुरुषार्थ शुरू ही तब होता है जब पहले मनुष्य यह निश्चित करता है कि – ''मुझे तो न्यारा बनना है।'' जब मनुष्य को इस बात की विस्मृति हो जाती है तब उसका पुरुषार्थ भी रुक जाता है। विचार की बात यह है कि वर्तमान समय जैसा जीवन है, उससे तो मनुष्य सन्तुष्ट है ही नहीं तो अवश्य ही जीवन को अब न्यारा बनाने की, अर्थात् परिवर्तन करने की आवश्यकता है। कहावत ही है कि जीवन को **कमल पुष्प के समान 'न्यारा'** बनाना चाहिए। जैसे कमल जल में रहते हुए भी जल से न्यारा होकर रहता है, वैसे ही हमें भी संसार में रहते हुए, संसार से न्यारा बनकर रहना चाहिए।

यह एक पुरानी उक्ति है कि – ''ज्ञानी का जीवन न्यारा और प्यारा होता है।'' इस उक्ति का लोग प्रायः यह अर्थ समझते हैं कि ज्ञानी मनुष्य सभ्यता और अदब से उठता-बैठता तथा बोलता-चलता है, उसके कर्मों में ओछापन नहीं होता बल्कि गम्भीरता होती है। परन्तु देखा जाय तो सभ्यता और शिष्टाचार तो कई नास्तिक लोगों में भी होता है। तो प्रश्न उठता है कि

ज्ञानी में क्या गहरापन होता है?

इस विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि ज्ञानी भले ही दूसरे लोगों की तरह ही बैठता है, परन्तु वह पृथ्वी पर बैठे हुए होने पर भी बुद्धि द्वारा परमधाम में ही बैठा होता है। उसका मन इस संसार के विषय-व्यक्तियों पर नहीं बैठता बल्कि प्रियतम् प्रभु पर जा बैठता है। **परन्तु अज्ञानी लोग बैठे एक स्थान पर होते हैं किन्तु उनका मन संसार के अनेक व्यक्तियों की ओर भाग रहा होता है।** इसी प्रकार, भले ही ज्ञानी भी इन चक्षुओं द्वारा तो शरीर को ही देखता है परन्तु वह साथ-साथ बुद्धि रूपी नेत्र द्वारा अथवा ज्ञान-चक्षु द्वारा आत्मा को भी देखता है। उसकी स्मृति में यह रहता ही है कि जो मेरी बात को सुन रहा है अथवा मुझे देख रहा है, वह वास्तव में तो आत्मा ही है और मैं भी आत्मा ही हूँ जो कि इस शरीर रूपी रथ पर सवार होकर कार्य कर रहा हूँ। इसी प्रकार, उसका देखना भी संसार के लोगों से न्यारा होता है और वह आत्मा की स्मृति में स्थिर होकर ही बोलता, देखता और सुनता है। इस कारण, उसकी दृष्टि, वृत्ति, स्मृति और स्थिति संसार से न्यारी होती है। यह बात बहुत साधारण मालूम पड़ती होगी परन्तु इसी धारणा से जीवन में महान अन्तर हो जाता है। मनुष्य भोगी से योगी बन जाता है।

'मुझे कर्मयोगी बनना है'

ऊपर जो युक्तियाँ बताई गई हैं, उनके अतिरिक्त चलते-फिरते यदि इस स्मृति में रहा जाय कि मैं तो कर्मयोगी हूँ तो इससे भी जीवन में पवित्रता आती है। आज मनुष्य कहते हैं कि 'हम तो गृहस्थी हैं'। वे प्रतिदिन आरती गाते हुए कहते हैं – ''हे भगवान्, हम तो मूर्ख, खल और कामी हैं।'' अब अपने बारे में इस प्रकार के शब्द कहने अथवा सोचने की बजाय इस निश्चय में रहना चाहिए कि – ''मैं तो कर्मयोगी

हूँ।'' अज्ञानी मनुष्य स्वयं को विकारी निश्चय करता हुआ, बार-बार विकारों में गोते लगाता है और कार्य-व्यवहार करते हुए विषय-विकारों को ही याद करता है। अब यदि मनुष्य यह निश्चय कर ले कि -- ''मैं तो कर्मयोगी हूँ, मुझे तो कर्म करते हुए भी परमात्मा से योग लगाना है'' तो उसका जीवन योग-युक्त हो सकता है। यदि वह स्वयं को 'गृहस्थी' (विकारी गृहस्थ) मानने की बजाय यह याद रखे कि मैं गृहस्थ आश्रम में, अर्थात् घर रूपी आश्रम में रहता हूँ तो उसके मन की चंचलता मिट सकती है। इसी प्रकार की सहज युक्तियों से मनुष्य के जीवन में संस्कार-परिवर्तन हो सकता है, उसे अलौकिक सुख-शान्ति और ईश्वरीय आनन्द का अनुभव सहज ही हो सकता है।

जीवन में परिवर्तन के लिए कुछेक ईश्वरीय युक्तियाँ

कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वरीय ज्ञान और सहज राजयोग की शिक्षा प्राप्त करने के बाद पहले-पहले तो हमें अपने जीवन में काफ़ी परिवर्तन महसूस हुआ परन्तु अब ऐसा लगता है कि उन्नति की गति मन्द पड़ गई है। जिस अव्यक्त स्थिति को हमें प्राप्त करना है, उसका चित्र तो हमारे सामने स्पष्ट है परन्तु उस तक पहुँचने से हमारी गति में सन्तोषजनक तीव्रता नहीं आई। अत: वे जानना चाहते हैं कि अब गति में तीव्रता लाने के लिए क्या साधन अपनाया जाय?

ध्यान से देखा जाए तो गति-भंग होने के पांच ही मुख्य कारण होते हैं। यदि उन कारणों का निवारण करने का पुरुषार्थ हम करें तो हम आत्मोन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच सकते हैं। परन्तु प्राय: मनुष्य उन पाँच बातों को सुधारने की ओर पूरा ध्यान ही नहीं देता। इस लेख में हम उन्हीं पाँच बातों का वर्णन कर रहे हैं ताकि उस ओर हमारा यथोचित ध्यान जाय।

1. चर्या

मनुष्य की अवस्था का सारा आधार चर्या है। चर्या में दिनचर्या भी शामिल है, सांध्य-चर्या भी और रात्रि-चर्या भी। मनुष्य सोकर जब उठता है और आँखें खोलता है अथवा पहला संकल्प करता है तब से उसकी दिनचर्या प्रारम्भ हो जाती है और रात्रि को सुषुप्त अवस्था तक जो भी संकल्प-विकल्प या कर्म वह करता है, वे सभी उसकी चर्या में ही गण्य होते हैं। यहाँ तक कि जो स्वप्न वह देखता है, वह भी एक प्रकार से उसकी चर्या का ही अर्द्धचेतन अवस्था में विस्तार (Extension) है। चर्या नियमित, सन्तुलित एवं आज्ञानुकूल न होने से भी मनुष्य का

आध्यात्मिक पुरुषार्थ ढीला पड़ जाता है। अत: सबसे पहले मनुष्य को अपनी चर्या पर ही ध्यान देना चाहिए। यहाँ हम चर्या के कुछ आवश्यक पहलुओं पर प्रकाश डाल रहे हैं।

ठीक समय पर और ठीक मनसा से सोना

अत: ठीक समय पर उठने के लिए और मानसिक तथा शारीरिक तौर पर चुस्त महसूस करने के लिए आवश्यक है कि हम ठीक समय पर सोयें। यद्यपि निद्रा पर जितनी विजय प्राप्त हो सके उतना ही अच्छा तथापि देखा गया है कि रात्रि को सोने के लिए 10 बजे का समय एक आदर्श समय है क्योंकि इस समय सोने से मनुष्य प्रात: 3.30 या 4 बजे सहज ही उठ सकता है और उस समय के एकान्त, शान्त और सतोगुणी वातावरण में योगाभ्यास एवं प्रभु-मिलन का आनन्द ले सकता है। यदि कोई मनुष्य 10 बजे की बजाय देर से सोता है तो वह या तो प्रात: देर से उठता है या उसे दिन-भर थकावट, निद्रा, आलस्य या भारीपन का प्रवाह महसूस होता है। इसका प्रभाव उसकी सारी दिनचर्या पर पड़ता है। अत: अपनी दिनचर्या की इस नींव को ठीक करना ज़रूरी है।

रात्रि को निद्रा के लिए मानसिक तैयारी भी हमें ज्ञानानुकूल ही करनी चाहिए। शयन-शय्या पर बैठकर पहले हमें कुछ समय शिवबाबा (परम-पिता परमात्मा) की मधुर स्मृति का अभ्यास करना चाहिए। यदि हमारे पास अधिक समय न भी हो या हम थकावट महसूस कर रहे हों तो भी पाँच मिनट ही सही परन्तु हमें ईश्वरीय स्मृति में बैठना अवश्य ही चाहिए। सोने की चारपाई पर जाकर पड़ जाना – यह कोई योगी की-सी चर्या नहीं है। योगी तो पहले अपने बिस्तरे को ठीक करके, हाथ-मुँह स्वच्छ करके तब ही चारपाई पर बैठता है। सहज रूप से उस पिता, माता अथवा साजन रूप परमात्मा से वह मनोमिलन मनाता है, वह इस स्थूल लोक में सोने से

पहले स्वयं को सूक्ष्म प्रकाशमय लोक में ले जाता है और अपने स्वरूप का तथा प्रभु का चिन्तन करते हुए उस परमपिता परमात्मा से आज्ञा लेकर आत्मिक स्थिति में लेट जाता है, मानो वह अपनी कर्मेन्द्रियों रूपी नौकरों-चाकरों को आराम के लिए छुट्टी दे देता है और स्वयं निस्संकल्प अवस्था में टिक जाता है। ऐसे सोने वाले योगी की निद्रा भी सतोगुणी या योगनिद्रा होती है और तमोगुणी स्वप्न नहीं आते, बल्कि वह सतयुगी पावन सृष्टि में, सूक्ष्म देवलोक के अथवा पुरुषोत्तम संगम युगी ज्ञान-जगत् के ही स्वप्न देखता है और जिस समय उठने का संकल्प करके सोता है, उस समय ही वह जाग उठता है।

(I) प्रातः उठने के समय के लिए विधि-विधान

फिर प्रातः उठते ही सबसे पहला संकल्प, मन रूपी आँख के सामने सबसे पहला दृश्य और बुद्धि में सबसे पहली स्मृति उस परमपिता परमात्मा ही की आनी चाहिए और चारपाई पर उठकर योग से ही अपनी दिनचर्या की शुरूआत करनी चाहिए तथा अपने मन में यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि आज की दिनचर्या और अवस्था कल की अपेक्षा ज्यादा अच्छी रखूँगा और किसी को भी दुःख नहीं दूँगा। प्रातः मनुष्य का मन सतोगुणी अवस्था में होता है, चुस्त भी होता है और मुदित तथा सन्तुष्ट भी। उस समय प्रतिज्ञा करना अथवा शुभ संकल्प करना गोया कार्यक्षेत्र में उतरने से पहले अपने मनोबल को एक दिशा देने की तरह है जो कि बहुत ही लाभप्रद है। कहावत है कि 'मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही वह हो जाता है।' प्रातः के समय सोचने से तो मनुष्य सचमुच वैसा ही हो जाता है। अतः अपने पुरुषार्थ में तीव्रता लाने के लिए कृत-संकल्प होकर ही अपना पाँव चारपाई से नीचे धरना चाहिए।

(ii) दिन भर में कम से कम सात बार विशेष योगाभ्यास

हमें दिनचर्या में इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि यदि अधिक न भी हो सके तो सायंकाल तक हम कम-से-कम सात बार विशेष रूप से ईश्वरीय स्मृति में बैठें। आठ घंटे हम हर हालत में इसका अभ्यास अवश्य करें। देखा गया है कि जो मनुष्य लौकिक अथवा स्थूल कार्यों में दिन भर लगातार लगा रहता है और सायंकाल में अपनी बुद्धि को तथा कर्मेन्द्रियों को इस प्रकृति के जगत् से हटाकर प्रभु की ओर लगाने का अभ्यास नहीं करता, उसका पुरुषार्थ तीव्र नहीं हो पाता। अत: चाहे कैसा भी व्यस्त जीवन क्यों न हो, दिन-भर में कम-से-कम सात बार हमें 15-15 मिनट ईश्वरीय स्मृति के लिए अवश्य ही समय निकालना चाहिए। प्रात: ईश्वरीय ज्ञानकेन्द्र पर तो हम नित्य-प्रति इसका अभ्यास करते ही हैं, परन्तु इसके अतिरिक्त भी दोनों बार भोजन करने से कुछ पहले एवं भोजन के समय, प्रात: उठते ही और रात्रि को भी सोने से पहले, संध्या समय अर्थात् जब दिन और रात मिलते हैं और रात्रि को क्लास में अथवा घर पर और एक बार दोपहर में, इस प्रकार कम-से-कम सात बार और कम-से-कम 15-15 मिनट तो ईश्वरीय स्मृति का अभ्यास करना ही चाहिए। जब भोजन हमारे सामने परोसा जाय तो उससे पहले ही स्व-स्थिति में एवं प्रभु-स्मृति में बैठने से अवस्था अव्यक्त बनी रहती है।

देखा गया है कि मनुष्य व्यस्तता के अनेक बहाने बनाकर योगाभ्यास के इन स्वर्णिम अवसरों को खो देता है। इससे न केवल यह हानि होती है कि उसके योग की सूक्ष्मता आगे-आगे नहीं बढ़ती बल्कि योग का अभ्यास टूट जाने से और छूट जाने से उसकी अवस्था व्यक्त होने लगती है तथा वह व्यवहारी और संसारी बनने लगता है। अत: अन्य कार्यों से भी

इसे आवश्यक समझकर जन्म-जन्मान्तर की कमाई का इसे साधन मानकर ईश्वर द्वारा दिया निर्देश जानकर, चाहे कैसे भी बच पाए, इसके लिए तो समय निकालना ही चाहिए। मनुष्य को ऐसा ही समझ लेना चाहिए कि प्रभु का तार आ गया है, टूंककाल आ गया है अथवा मेरे लिए कोई आवश्यक संदेश, अथवा संदेश (अर्जेन्ट मैसेज;Urgent Message) आ गया है अथवा आना है। ''मैं चलते-फिरते, उठते-बैठते योग लगा लूँगा।'' ऐसा सोचकर विशेष तौर पर प्रभु मिलन के लिये बैठने तथा योग का अभ्यास करने की टेव को छोड़ देना हानिकारक है। कार्य करते हुए भी ईश्वरीय स्मृति में रहने का पुरुषार्थ तो करना ही चाहिए परन्तु, उसके अतिरिक्त विशेष तौर पर दिन-भर में कई बार सहज समाधि का अभ्यास अथवा अनुभव करने से स्थिति अच्छी बनी रहती है।

2. अपने ऊपर कोई अंकुश

अवस्था में कुछ कमजोरियाँ आ जाने का एक कारण यह भी होता है कि मनुष्य को सावधानी देने वाले; उसकी त्रुटियां उसे बताने वाले और उसकी स्थिति को फिर से ठीक रखने के लिए उसे निर्देश तथा अंकुश में रखने वाले से उसका सम्पर्क टूट जाता है। जब तक मनुष्य की अवस्था सम्पूर्ण और निर्दोष न हो जाए तब तक उसे अवश्य ही किसी ऐसे निर्देशक की आवश्यकता रहती ही है जो उसकी उन्नति के लिए उसके हित की बात उसे बताये। परन्तु, देखा गया है कि कुछ लोग थोड़ा-सा भी ईश्वरीय ज्ञान सुनने के पश्चात् तथा ईश्वरीय सेवा में जुटने के बाद ऐसा कोई संग नहीं बनाये रखते। वे किसी को भी अपनी अवस्था का सारा हिसाब खोलकर नहीं बताते जिससे कि आगे के लिए उन्हें दिशा-निर्देश मिले। इसका परिणाम यह होता है कि वे स्वयं या तो अपनी कमियों को देख नहीं पाते या उन्हें दूर नहीं कर पाते और इसके परिणामस्वरूप उन्हें यह

देखकर निराशा होती है कि उनकी कोई प्रगति नहीं हो रही। वे स्वयं में ही मिथ्यातृष्टि का अनुभव करते हुए जहाँ खड़े थे वहीं खड़े रहते हैं। अत: उत्तरोत्तर उन्नति चाहने वाले मनुष्य को अपने पुरुषार्थ में तीव्रता लाने के लिए अपनी अवस्था का ब्यौरा (Chart;चार्ट) देना बहुत जरूरी है।

3.नाम, मान-शान अथवा प्राप्ति की आकांक्षा

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो ईश्वरीय ज्ञान और सहज योग की शिक्षा प्राप्त करने के बाद ईश्वरीय सेवा तो करते हैं परन्तु साथ-साथ अपने कार्य के फलस्वरूप नाम अथवा यश पाने की आकांक्षा भी करते हैं। जो सेवा वे करते हैं, उसमें वे नम्रभाव से, स्वयं को एक सेवा-धारी अथवा निमित्त साधन मानने की बजाय, वे स्वयं को एक कुशल और योग्य कार्य-कर्त्ता मानने लगते हैं और प्रतिष्ठा, सुविधा तथा सत्कार पाने की आकांक्षा मन में रख लेते हैं। यदि उनकी यह इच्छा पूरी हो जाय तो वे इसमें और भी अधिकाधिक फँसते जाते हैं, अर्थात् और अधिक यश प्राप्त करने की लालसा से और अधिक कार्यों में जुट जाते हैं और इसके परिणामस्वरूप उनके पास योगाभ्यास के लिए न तो एकान्त और शान्त में बैठने का समय बच पाता है और न ही आत्म-चिन्तन और आत्म-निरीक्षण की उन्हें टेव होती है। यदि उन्हें मान और पद न मिले तो वे रुष्ट और खिन्न-चित्त हो जाते हैं और दिन-प्रतिदिन इस भाव से ईश्वरीय सेवा को छोड़ते जाते हैं कि हमारे किये हुए कार्य का कोई मूल्य ही नहीं अथवा उसकी ओर कोई ध्यान ही नही देता! इस प्रकार उत्तरोत्तर अपनी बुद्धि को सेवा के कार्य में से खाली करके वे उल्टे संकल्पों और विकल्पों में लगाकर अपनी अवस्था को गिराने लगते हैं। इसके अतिरिक्त, वे अपने किये पुरुषार्थ या अपने सेवा कार्य का तुरन्त फल देखना चाहते हैं। यदि उन्हें यह फल

दिखाई नहीं देता, अर्थात् फल की प्रत्यक्षता में कुछ समय लग जाता है, तब भी वे अधीर तथा असन्तुष्ट होकर कार्य अथवा कर्त्तव्य छोड़ देते हैं और यह कहना शुरू कर देते हैं कि – ''कुछ परिणाम तो निकलता ही नहीं, फिर करने से क्या लाभ?'' इस प्रकार वे उत्साहहीन, निराश और पुरुषार्थहीन होकर उत्तरोत्तर अपनी धारणाओं में कमजोर होते जाते हैं और अपने जीवन में अवनति का अनुभव करते हैं। अतएव इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि हम अपने ऊपर किसी का अंकुश मानें। थोड़े-थोड़े समय के बाद अपनी अवस्था की जाँच-पड़ताल (Checking) करायें और आध्यात्मिक औषधि एवं उपचार द्वारा स्वयं को ठीक करते रहें और नाम, मान और शान की भावना, जो कि पुरुषार्थ में एक बहुत बड़ी रुकावट बन जाती है, का त्याग करें।

4. रुकावट और आराम पसन्दी

जैसे लौकिक यात्रा में भी होता है, मनुष्य जितना अधिक चल चुकता है, उतना-उतना उसे थकावट होने लगती है और जितना-जितना वह ऊँचा चढ़ता जाता है, उतना-उतना ऊँचा चढ़ने के बाद उसे मंजिल ऊँची और कठिन मालूम होने लगती है, वैसे ही इस आध्यात्मिक यात्रा में भी होता है। मनुष्य इस आध्यात्मिक पथ पर चलते-चलते अथवा ऊँचा चढ़ते-चढ़ते कुछ समय के बाद थकावट अथवा कठिनाइयाँ अनुभव करने लगता है; उन्हें अपने मन में लेकर विघ्नों का सामना करने की हिम्मत छोड़ देता है। वह जीवन से नीरसता महसूस करने लगता है और नवीनता, प्रगति, निरालापन आदि न देखकर निरुत्साहित हो जाता है।

परन्तु ऐसा होना नहीं चाहिए। अधिकाधिक विघ्न और कठिनाइयाँ तो मंजिल समीप आ जाने की निशानियाँ, अर्थात् चोटी पर पहुँचने के चिह्न, होते हैं। वे तो हम में और हिम्मत, आत्म-विश्वास तथा उत्साह भरने की

चेतावनी अथवा न्योता देते हैं। उनको पार करके ही तो हम उस प्रभु के पास पहुँच सकते हैं जिसे कायर साधकों ने 'अपरम्पार' कहा है। अत: मनोबल का प्रयोग करते हुए, ईश्वरीय संगठन का संबल लेते हुए, विजय पताका हाथ में लेकर सर्वशक्तिमान् परमात्मा की शक्तिशाली सेना का वफादार सेनानी स्वयं को समझते हुए हमें तो उन स्थानों पर पहुँचने का साहस करना चाहिए जहाँ इसके पहले किसी के पग न पड़े हों। विघ्नों का नाश करने की बजाय स्वयं ही उन द्वारा विनष्ट हो जाना गोया ऐसे ही है जैसे कोई कागज के शेर को सच्चा शेर मानकर हतप्रभ हो जाय।

विघ्नों से उद्विग्न होना – यह हमारी अपनी मानसिक अवस्था की त्रुटि है। राई को पहाड़ समझकर उसे लांघने का साहस न करना – यह हमारी अपनी ही दृष्टि का दोष है। विघ्नों का बड़ा या छोटा दिखाई देना वैसे ही है जैसे कि किसी कान्केव आइने के सामने यही व्यक्ति अपने आपको छोटा देखता है। अत: विघ्न को विघ्न न मानकर उन्हें पुरुषार्थ रूपी लूडो (Loodo) का खेल मानकर अथवा नदी को पार करने वाला पुल मानकर उस पर चढ़ जाना चाहिये।

अपनी वर्तमान अवस्था में असन्तुष्ट होना तो यह सिद्ध करता है कि इससे ऊँचा उठने के संस्कार हममें हैं और पहले कभी इससे ऊँचे हम पहुँचे हैं। अत: यह असन्तुष्टता तो हमारे लिए सन्तोषकारी होनी चाहिए क्योंकि यह इस बात की सूचक है कि हम वर्तमान अवस्था से ऊँचे जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, यदि हमारे रास्ते में कोई दीवार है, जिस को हम पार नहीं कर पा रहे और जिसके कारण हम समझते हैं कि हमारी गति रुक गई है, तब भी हमें उस दीवार तो हटाने का यत्न करना चाहिए क्योंकि प्रयत्न के सिवाय तो दूसरा कोई चारा ही नहीं है। नेपोलियन की सेनाओं

के रास्ते में पर्वत एक बहुत बड़ी रुकावट बन गये थे जिसके परिणामस्वरूप उनकी गति रुक गई थी। परन्तु आज नेपोलियन की महानता का गायन लोग इसलिए करते हैं कि उसने पहाड़ों पर भी तोपें चढ़वा दीं और विजय दुन्दुभि बजा दी। जिसे उसकी सेना के सेनापति 'पहाड़' मान रहे थे, नेपोलियन को वे केवल एक ऊबड़खाबड़ जमीन ही मालूम होती थी। अत: जब उसकी सेना के नायकों ने यह कह दिया कि अब इसके बाद प्रगति असम्भव है, तब नेपोलियन ने कहा कि – ''असम्भव शब्द तो मूर्खों के शब्दकोष में पाया जाता है।'' यह बात भी ठीक है, क्योंकि बुद्धि का प्रयोग करने से पहले जो चीज असम्भव होती है, वही बुद्धिबल, युक्ति, नीति-निपुणता तथा साहस के द्वारा एक दिन सम्भव हो जाती है। मनुष्य का चाँद पर उतरना, दूर-देश स्थित किसी व्यक्ति को किसी यन्त्र द्वारा देखना अथवा सुन सकना – पहले एक दिन असम्भव ही तो मालूम होता था। परन्तु इन वैज्ञानिकों के धीरज, साहस और निरन्तर बुद्धि लड़ाने का फल यह है कि इन सिद्धियों को प्राप्त करने के लिये वे पेचीदा प्रश्नों, साधारण मनुष्यों की आलोचनाओं, आर्थिक कठिनाइयों तथा प्राकृतिक विघ्नों को पार कर सके।

अत: हमें भी पुरुषार्थ और अभ्यास को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। आज यदि दीवार को हम एक, दो तीन या दस हथोड़े लगाते हैं और वह गिरती नहीं तथा हमारे रास्ते से हटती नहीं तो हमें अपने पुरुषार्थ को छोड़ना नहीं चाहिये क्योंकि आखिर सौवाँ हथौड़ा लगने पर वह दीवार हमारा रास्ता छोड़ देगी। इसलिये किसी ने कहा है – ''परिश्रमेण हि सिद्धयन्ति कार्याणि, न मनोरथै: न तु सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ते मुखे मृगा:'' अर्थात् परिश्रम से ही सब कार्य और मनोरथ सिद्ध होते हैं। हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि यदि किसी दिन हमारी कोई

मानसिक वृत्ति हमारे कन्ट्रोल (नियन्त्रण) में नहीं भी आती, ईश्वरीय स्मृति में हमारा मन स्थिर नहीं भी होता, ज्ञान-श्रवण में हमें रस नहीं भी आता, हमारा कोई बुरा संस्कार हमारा पीछा नहीं भी छोड़ता तो भी निराश होने का कोई कारण नहीं है। अभ्यास के हथौड़े एक दिन उस संस्कार रूपी दीवार को धूल-धूसरित कर ही डालेंगे — यह निश्चित है। जब पत्थर भी कच्चे घड़े की निरन्तर रगड़ से घिस जाता है, तब क्या हमारे पुरुषार्थ की फौलादी चोट के आगे हमारे संस्कार अभंग और अटूट रह जायेंगे?

5. आहार, विहार और व्यवहार पर पूरा ध्यान

यह बात भी आज़मायी गयी है कि यदि मनुष्य भारी भोज़न कर लेता है अथवा दिन में कई बार खाने की आदत स्वयं में डाल लेता है, तब भी उसमें आलस्य बना रहता है और शरीर में भारीपन तथा बुद्धि में स्थूलता मालूम होती है। पुनश्च, जीभ पर कन्ट्रोल न होने से धीरे-धीरे अन्य कर्मेन्द्रियाँ भी बगावत करने लगती हैं। अन्य कर्मेन्द्रियों पर कन्ट्रोल करके मुखेन्द्रिय पर कन्ट्रोल न करना तो गोया ऐसे है जैसे सारे देश पर कब्जा करके दुश्मन को उसमें थोड़ा-सा इलाका दे देना। खाद्य पदार्थों की ओर आकर्षण भी तो प्रकृति ही की ओर आकर्षण है। इस आकर्षण से इसका रूपान्तर हो जाना भी सम्भव है। अत: यद्यपि ज्ञान और योग मार्ग में भक्ति की तरह व्रत, उपवास या अनशन करने की आवश्यकता नहीं है तथापि इन्द्रिय को भी नियन्त्रण में रखना जरूरी है क्योंकि भोजन-लोलुपता, पेय पदार्थों के लिए तृष्णा और स्वाद की पराधीनता भी एक प्रकार की बाह्यमुखता ही है और देहाभिमान का एक रूपान्तर है जोकि मनुष्य को बार-बार स्थूलता की ओर ले जाता है। अत: योगी को न केवल सात्विक भोजन का नियम अपनाना चाहिये बल्कि बार-बार खाने पीने की आदत को मिटा देना चाहिए।

इसी प्रकार, मनुष्य को अपना विहार भी ठीक रखना चाहिए। विहार ठीक रखने के उद्देश्य से बौद्ध भिक्षुओं ने तो घर-बार को छोड़कर 'विहार' ही बना डाले और संन्यासियों ने 'पीठ' अथवा 'आश्रम' स्थापित कर लिए। यद्यपि राजयोगी को ऐसा नहीं करना है तथापि उसे अपने घर को ही 'विहार' अथवा 'आश्रम' बनाना है। इससे हमारा भाव यह है कि एक तो अपने घर में पवित्रता का वातावरण बनाना चाहिये। दूसरे मनुष्य को अल्प-ग्राही होना चाहिये। ज्यादा वस्तुओं का परिग्रह करना, घर को एक जनरल मर्चेन्ट अथवा परचून की दुकान बना लेना, दीर्घसूत्री बन जाना योगी के लिए अनुकूल नहीं। हमारा अभिप्राय: यह है कि ज्यादा ठाट-बाट, सज-धज, ऐश-आराम, बहलावे-दिखावे के साधनों से अपने विहार को भर लेना, खामख्वाह अपनी बुद्धि को भारी क[illegible] है। हमारा विहार जितना ही सादा, सात्विक, स्वच्छ और स्वधर्म की स्मृति दिलाने वाला होगा उतना ही श्रेयस्कर होगा।

देखा गया है कि पारस्परिक व्यवहार में जहाँ-कहीं भी शंका आ जाती है, विच्छेद या विभेद पैदा हो जाता है, वैमनस्य या उल्टा वैराग्य उत्पन्न होता है, वहाँ भी मनुष्य का मन मुदित अवस्था में न रह कर कई किस्म की उधेड़-बुन में लग जाता है और मनुष्य का योग टूट जाता है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि दूसरों के साथ हम सरलता, मधुरता, नम्रता, स्नेह, सहानुभूति, सहनशीलता, सम्मान, सहयोग और सहकारिता को न छोड़ और घृणा, द्वेष, बदले की भावना, निन्दा, चुगली, वैर, विरोध आदि को न अपनायें वरना हमारी आध्यात्मिक उन्नति में दूसरों के प्रति हमारा या दूसरों का व्यवहार बहुत बड़ी बाधा बन सकता है।

इस प्रकार, यदि हम इन पाँच बातों को ठीक करने की कोशिश करें तो हमारी अवस्था की कलाएं चढ़ेंगी ही और हमारे संस्कार बदलेंगे ही – ऐसा निश्चित है।

विकर्मों से बचने की युक्ति

हर-एक कर्म का कोई-न-कोई फल अवश्य होता है जोकि कर्ता को जल्दी या देर से अवश्य भोगना पड़ता है। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त, यह भी सभी मानेंगे कि किसी मनुष्य ने क्या-क्या कर्म किए हैं, किन-किन का फल वह भोग चुका है और किस-किस कर्म का क्या-क्या फल उसे कब और किस रूप में अभी भोगना है, यह बात भी कोई मनुष्य नहीं जानता, न ही मनुष्य यह जानता है कि पहले उसने किस-किस कर्म का फल, क्या और कब और किस रूप में भोगा है अथवा अब भोग रहा है। कर्म का फलदाता मनुष्य स्वयं नहीं है, मनुष्य कर्म की गहन गति को नहीं जानता। परमात्मा ही एकमात्र अजन्मा, अविनाशी, साक्षी, अकर्त्ता और अभोक्ता हैं जो सबकी जन्म-पत्री और कर्मपत्री को जानते हैं। इसलिये गीता में भगवान् के महावाक्य हैं कि — ''हे वत्स! मैं तेरे अनेक जन्मों को जानता हूँ परन्तु तू नहीं जानता। तू कर्मों की गुह्य गति को मुझ से जान।'' अत: स्वयं भगवान् ही बता सकते हैं कि विकर्मों के दण्ड से बचने का कोई उपाय है या नहीं।

इस विषय में भगवान् के महावाक्य हैं कि —''हे वत्स, तुम कितने भी पापी क्यों न हो, मेरी शरण लो **(मामेकम् शरणम् ब्रज)**, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा।'' विचार की बात है कि शरण लेने में ऐसा क्या जादू है जिससे मनुष्य के पाप अथवा विकर्म ही समाप्त हो जाते हैं? क्या शरण लेने मात्र से मनुष्य के पापों का बोझ उतर जाता है? यदि शरण लेना अथवा शरणागति द्वारा विकर्मों का अन्त होना इतना सहज होता तो मनुष्य ''नौ सौ चूहे खाकर बिल्ली हज़ को चली'' की कहावत के अनुसार पाप करता रहता और एक दिन प्रभु की शरण ले लेता?

'शरण' का अर्थ क्या है?

शरण लेने का अर्थ है — अपना सब-कुछ समर्पण करके किसी की रक्षा में चले जाना। परमात्मा की शरणागत होने का अभिप्राय है — अपने तन, मन, धन को उसके समर्पण करके उसकी ही आज्ञानुसार उनका प्रयोग करना। संसार में कोई भी कर्म ऐसा नहीं जिसका तन, मन अथवा धन से सम्बन्ध न हो। विकर्म होते हैं तो भी इन्हीं के प्रयोग से होते हैं और धर्म अथवा सत्कर्म होते हैं तो भी इन्हीं के प्रयोग से होते हैं। अब इन द्वारा विकर्म न बनें बल्कि शुभ कर्म ही बनें, यह उस ही की राय (सम्मति) पर चलने से सम्भव हो सकता है जो कि कर्म की गहन गति को जानता हो और हमारी जन्म-पत्री से परिचित हो। 'मुझे किसके साथ किस प्रकार का लेन-देन रखना है ताकि आगे के लिए विकर्मों का हिसाब-किताब न बने?' — यह एक परमात्मा के सिवा मुझे अन्य कौन बता सकता है? देह के सम्बन्धियों के साथ मेरा अभी क्या लेन-देन अथवा कर्म-बन्धन है, मुझे जीवन-निर्वाह धन से, किस हद तक, और कैसे करना है? — कौड़ी-कौड़ी का ऐसा सूक्ष्म हिसाब-किताब परमात्मा के अतिरिक्त और कौन जानता है? 'मुझे किसी के पास कहाँ तक सेवा लेने, लेन-देन करने इत्यादि का अधिकार है?' — यह कौन मनुष्य जानता है? इन सब कर्म-बन्धनों से मुक्त होने के लिए क्या स्वयं कर्म-बन्धन में फँसे हुए इन्सान के मत पर चलने से सफ़लता हो सकती है? उत्तर मिलेगा — ''कदापि नहीं।''

तो एक परमात्मा ही हैं जिनकी शरण लेने अर्थात् कदम-कदम पर जिनकी श्री-मत (सम्मति) लेने से मनुष्य को कर्म-बन्धन से मुक्ति हो सकती है अथवा जन्म-जन्मान्तर के विकर्मों का हिसाब-किताब समाप्त हो सकता है। इसके सिवा मुक्ति अथवा कर्मातीत अवस्था को प्राप्त होने का और कोई उपाय नहीं है। यह पद्मों-तुल्य बात बुद्धि में अच्छी तरह धारण

कर लेनी चाहिए।

परमात्मा अवतरित होकर ही मनुष्य को शरण देते हैं

परमपिता परमात्मा के अवतरण का यही तो मुख्य कारण है। परम-पिता परमात्मा सिर्फ लोक-परलोक के गुह्य रहस्य ही बताने के लिए अवतरित नहीं होते बल्कि पग-पग पर सावधान करने के लिए, मार्ग-प्रदर्शना करने के लिए और राय देने के लिए, साकार तन का आधार लेते हैं। यदि वह साकार का रूप धारण न करें तो हर-एक मनुष्य को उसकी जन्म-पत्री, परिस्थिति, योग्यता और कर्म-बन्धन के अनुसार उसको सर्वो-त्तम राय कैसे दे सकें और यदि राय न दें तो कर्म-बन्धन की दल-दल में फँसा हुआ इन्सान अथवा विकर्मों के अंधेरे कुएं में गिरा हुआ मनुष्य बाहर कैसे निकल सके? परमात्मा के सर्वोत्तम मत (श्रीमत) के बिना तो मनुष्य के विकर्म बनते रहेंगे, और इस प्रकार मनुष्य कर्म-बन्धनों से कभी भी छूट न सकेगा।

अत: दु:ख की पूर्ण निवृत्ति के लिए विकर्मों का हिसाब-किताब चुकाना आवश्यक है। उनको चुकाने के लिए परमात्मा की मार्ग-प्रदर्शना अथवा मत आवश्यक है। उनका मत लेने के लिए उनकी शरण लेना आवश्यक है। अर्थात् उनके आगे समर्पण होना अथवा उनका बच्चा बनना आवश्यक है क्योंकि बाप अथवा टीचर (अध्यापक) अथवा गुरु अपने ही बच्चों को अथवा शिष्यों को मत देता है न कि दूसरों को। और साकार बच्चों (व्यक्त आत्माओं) को मत देने के लिए पिता परमात्मा का साकार रूप धारण करना आवश्यक है ताकि वह अपने साकार रूप द्वारा स्वयं आदर्श कर्म करके दिखाये और कर्म करना सिखलाए। परमपिता परमात्मा के ज्ञान को तो मनुष्य धारण ही कर लेता है परन्तु मनुष्य के जो कर्म हैं,

वो विकर्म न बनें और आगे के लिए विकर्मों का हिसाब-किताब समाप्त हो जाय, अन्य बुद्धि वाला मनुष्य माया से छला न जाय – यह सब तभी सम्भव हो सकता है जब मनुष्य को एक परमात्मा रूपी सत्गुरु की मार्गप्रदर्शना मिले और मार्ग-प्रदर्शना के लिये परमात्मा का अवतरित अथवा साकार होना आवश्यक है।

ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग में यही तो अन्तर है। भक्ति मार्ग वाले तो केवल गायन ही करते हैं कि 'हे प्रभु, हम तुम्हारी शरण आये हैं।' वे तो केवल कहते हैं – ''द्वार पड़ा मैं तेरे, कृपा करो भर्त्ता, पारब्रह्म परमेश्वर दु:ख के हर्त्ता।'' परन्तु न तो वे यथार्थ रीति में परमात्मा की शरण लेते हैं और न ही उनके मत पर चलते हैं, क्योंकि परमात्मा की शरण अथवा मत पर अथवा शिक्षा तो प्राप्त ही तब होती है जब वह स्वयं इस पृथ्वी पर ब्रह्मा का साकार तन धारण करता है। तब उससे ज्ञान लेने वाला ज्ञानी वत्स क्रियात्मक रीति (प्रेक्टीकल में) उसकी शरण अथवा गोद ले, उसकी आज्ञा पर चल, मुक्ति और जीवन-मुक्ति को प्राप्त होता है।

परमात्मा का अवतरण तब होता है जब सब मनुष्यात्माएं कर्म-बन्धन में फँसी हों। उस ही समय को 'धर्म-ग्लानि' का समय कहा जाता है तब ही परमात्मा कर्म-बन्धन से मुक्त कर, जीवनमुक्त सतयुगी सृष्टि स्थापन करने अथवा मुक्तिधाम में ले जाने के लिए आते हैं। अत: मुक्ति और जीवनमुक्ति का दाता एक परमात्मा ही है, न कोई लौकिक गुरु, न मतस्थापक, न ही विद्वान।

अत: ''मामेकम् शरणम् ब्रज'' – यह एक महामन्त्र (सर्वोत्तम सम्मति) है जिस द्वारा दु:ख की निवृत्ति हो जाती है। विकार रूपी रोग को दूर करने की यह एकमात्र संजीवनी बूटी और परम औषधि है। परन्तु जैसे कोई मूर्ख बीमारी को दूर करने के लिए औषधि प्रयोग करने की बजाय

नुस्खे को रटता रहे, वैसे ही बे-समझ लोग इस महामन्त्र अर्थात् अनमोल राय पर चलने की बजाय नित्य-प्रति इस श्लोक का ही पाठ करते रहते हैं, नित्य-प्रति इस महामन्त्र को ही रटते रहते हैं। जैसे ''मैं पहुँच जाऊं, पहुँच जाऊं'' कहते रहने से कोई भी व्यक्ति अपनी मंजिल (लक्ष्य) पर पहुँच नही सकता बल्कि सन्मार्ग पर चलते रहने से ही पहुँच सकता है, वैसे ही ''प्रभु जी हम शरणागत तेरे'' कहते रहने से मुक्ति नहीं मिलती। अतः यदि अब भी पिता परमात्मा शिव की शरण न ली तो यह पाप की गठरी शीश पर धरी ही रहेगी और फिर शीश पकड़कर रोना ही पड़ेगा, क्योंकि इस गठरी को उठाकर मुक्ति के द्वार तक न कोई आज तक पहुँचा है और न पहुँच पायेगा।

अव्यक्त अथवा विदेही अवस्था में बाधक- अलबेलापन और आलस्य

शिव बाबा ने मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए यह समझाया है कि यदि मनुष्य दिन-भर में आठ घंटे भी कार्य-व्यापार करे और आठ घंटे आराम, नींद तथा खान-पान में लगाए तो शेष आठ घंटे तो उसे ईश्वरीय याद की यात्रा में लगाने ही चाहिएँ। परन्तु फिर भी हम देखते हैं कि मनुष्य प्रतिदिन आठ घंटे ईश्वरीय याद में नहीं टिक पाता। शिवबाबा ने कहा है कि इसका कारण है – अलबेलापन और आलस्य। प्रस्तुत लेख में हम विचार करेंगे कि यह अलबेलापन और आलस्य किस-किस रूप में सामने आता है और इसका निवारण कैसे होना चाहिए।

1. अवकाश की कमी और थकावट का बहाना

प्राय: मनुष्य 8 घंटे ईश्वरीय याद में स्थित न होने का बहाना यह देता है कि दफ्तर में बुद्धि कार्य में व्यस्त होती है। दफ्तर से लौटने के बाद वे सोचते हैं कि अब तो बुद्धि सारे दिन के कार्य-भार के कारण थकी हुई है, इसलिए अब तो कुछ आराम करना चाहिए अथवा गपशप लगाकर जी बहलाना चाहिए। इस प्रकार स्वयं को ग़लत बात समझाकर वे ईश्वरीय याद पर कम ध्यान देते हैं और अपने चार्ट में याद की यात्रा की रफ्तार बढ़ा नहीं पाते। किन्तु वे यह नहीं सोचते कि हम यह बहाना करके वृथा ही अपना दिल खुश कर रहे हैं वरना तो हम अपने जन्म-जन्मान्तर के लिए स्वयं को बहुत ही घाटे में डाल रहे हैं और अपने भाग्य को लौटा रहे हैं। आठ घंटे मनुष्य जब कार्य-व्यवहार करता है तब यदि टेलिफोन पर रिंग (Ring) आ जाए या कोई मिलने-जुलने वाला व्यक्ति आ जाय या

जलपान आदि का विचार पैदा हो जाये तो उस ओर भी तो वह ध्यान देता ही है। सारा समय तो मनुष्य की बुद्धि पूरी तरह कार्य-व्यापार में नहीं लगी रहती? सारा समय तो उसके सामने ग्राहक या फ़ाइल (File) नहीं रहते? ऐसा तो नहीं होता कि घंटे में 5-7 मिनट का भी वह अवकाश नहीं पा सकता? तो शिवबाबा कहते हैं कि कार्य-व्यापार करते समय भी यह ध्यान में रखो कि चाहे कुछ भी हो और कैसे भी करना पड़े, हर घंटे में 5-7 मिनट तो आत्मिक स्वरूप में स्थित होने का तथा ईश्वरीय याद का कार्य अवश्य करना ही है। यदि हमारे दफ्तर में किसी दिन अधिक और बहुत ही आवश्यक कार्य कुछ और आ जाय या हमारी दुकान पर अधिक ग्राहक आ जायें तो क्या हम उनकी ओर ध्यान नहीं देते? तो क्या हम उनकी ओर ध्यान नहीं देते? यदि बच्चा अधिक होता तो क्या आप उसकी ओर ध्यान न देते? अपनी ड्यूटी (Duty) समझकर उनको भुगतते हो ना? तो क्या कारण है कि हम ईश्वरीय स्मृति को महत्व नहीं देते? क्या यह हमारी ड्यूटी नहीं है? क्या इससे किसी और को लाभ होगा? क्या इसके लिए कोई दूसरा जन्म अथवा अन्य युग आयेगा? क्यों न हम ऐसा मान लें कि शिवबाबा भी एक ग्राहक हमारी दुकान पर आ जाता है जोकि हमसे केवल 5 मिनट ईश्वरीय याद रूप वस्तु माँगता है और उसके लिए हमें 5 करोड़ रुपए दे जाता है? क्यों न हम यह मान लें कि हर घंटे में एक फाईल ईश्वरीय सरकार की भी आ जाती है जिस पर "ऐट वन्स" (At Once: तुरन्त) की चिट (Chit) लगी होती है और फाईल में हमें अपने ही बारे में सोचना होता है? दफ्तर में भी साप्ताहिक रिपोर्ट (Weekly report) या मासिक रिपोर्ट (Monthly report) तैयार करनी होती है ना? तो क्यों न हम ऐसा समझकर चलें कि घण्टे में पाँच मिनट हमें अपने बारे में ईश्वरीय सरकार को भी रिपोर्ट देनी होती है? ईश्वरीय याद से तो मनुष्य की

निर्णय शक्ति और कार्य-शक्ति बढ़ती है और जो कार्य साधारणत: व्यक्ति एक घण्टे में करता है, ईश्वरीय याद में रहने से वह उसे कम समय में कर लेता है। अत: ईश्वरीय याद तो व्यवहार को निपटाने में भी सहायक है।

शिवबाबा कहते हैं कि दफ्तर में जब आप 'कलम' का प्रयोग करते हैं तो 'कमल' को भी साथ ही याद करो कि "मैं कमल के समान न्यारा और अलिप्त हूँ?" जब आपके सामने फाइल आती है तो यह सोचो कि अब शिवबाबा मेरे जीवन की फाइल अथवा रिकार्ड (Record) में क्या रिमार्क (Remark) दे रहे होंगे और किस बात पर हस्ताक्षर कर रहे होंगे? जब आपको अपने कार्य-व्यापार के लिए भाग-दौड़ करनी पड़ती है अथवा बुद्धि दौड़ानी पड़ती है तो हमें सोचना चाहिए कि क्या हम ईश्वरीय याद रूपी यात्रा में भी भाग रहे हैं या नहीं? इस प्रकार अब गफ़लत को छोड़ना चाहिए वरना अब इस कलियुगी सृष्टि रूपी भंभोर को तो आग लगने ही वाली है। संसार की हालत तो हमारे सामने ही है। अब नहीं तो फिर कब करेंगे?

2. थकावट के लिए माजून ईश्वरीय याद ही है

दफ़्तर और दुकान के कार्य के बाद यदि थकावट है तो थकावट की तो माजून ही "ईश्वरीय याद" है। ईश्वरीय याद तो थकावट को दूर करती है न कि थकावट को लाती है। पुनश्च, थकावट भी तभी महसूस होती है और बाधक बनती है जब हम ईश्वरीय याद के महत्व को नहीं पहचानते। थकावट वाले मनुष्य को यदि अपने किसी स्नेह-पात्र या सम्बन्धी के बीमार हो जाने पर जागना पड़े तो क्या वह नहीं जागता? यदि उसे किसी आवश्यक कार्य के लिए तार आ जाये तो क्या वह नहीं जाता? क्या विद्यार्थी परीक्षा के दिन समीप आने पर रात-दिन के भेद को भूलकर

'थकावट' शब्द के अर्थ को हल्का लेकर अपने भविष्य को सोचकर, परीक्षा के परिणाम को सामने रखंकर दिल लगाकर अथक परिश्रम नहीं करता? अत: ''थकावट-थकावट'' – ये शब्द उनके मुख पर आते हैं जिन्हें यह निश्चय नहीं है कि इस सुहावने संगम युग में याद की यात्रा से हमें भविष्य में 21 जन्मों के लिए ऐसा सुख मिलेगा जिसमें कभी भी किसी प्रकार की अपूर्णता न होगी। हमें स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सम्पत्ति और शान्ति सब कुछ मिलेगा। ऐसी कोई वस्तु या कोई ऐसा सुख नहीं रहेगा जो हमको न मिले। तब हमें अपनी आजीविका कमाने के लिए भी इस प्रकार पसीना नहीं बहाना पड़ेगा। यदि कोई मनुष्य इस बात को भली-भाँति समझता हो तो वह कैसे कह सकता है कि मुझे इस समय थोड़ी थकावट है, अब मुझे थोड़ी गप-शप लगानी है अथवा आराम करना है। इतनी ज़बरदस्त कमाई के लिए तो उसका आराम हराम हो जाएगा। जन्म-जन्मान्तर मनुष्यों ने आराम ही तो किया है और व्यापार-धन्धा ही तो किया है और जब वे स्वयं ही कहते हैं कि – 'हम गोरख धन्धे में पड़े हुए हैं।' जब सारे कल्प में यह एक अन्तिम जन्म ही तो है, जिसका शेष थोड़ा ही समय रहा है और शिवबाबा कहते हैं कि – ''शेष जो थोड़ा समय बचा है, इसमें केवल आठ घण्टे प्रतिदिन मुझे याद करो तो मैं तुम्हें 21 पीढ़ी तक सम्पूर्ण स्वर्गिक सुख दूँगा।'' इसमें भी शिवबाबा लौकिक धन्धा करने के लिए रोकते थोड़े ही हैं? तब क्या मनुष्य का दिमाग खराब हुआ है या माया ने उसकी मत मार दी है कि उसे यह विचार नहीं आता कि बहुत बीत गयी, अब तो थोड़ा समय शेष है, अब तो मुझे चेत कर नारायण पद के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए! भक्ति मार्ग में अलबेलापन तो चलता ही रहा परन्तु अब जबकि स्वयं भगवान् आये हैं, विशेषकर हमें खजाना देने

के लिए, तब तो अलबेलापन बहुत हानिकारक है।

3. मैं पुरुषार्थी हूँ; अभी सम्पूर्ण थोड़े ही हूँ?

अलबेलेपन का एक रूप यह है कि जो मनुष्य स्वरूप की तथा शिवबाबा की विस्मृति में रहता है, वह प्राय: यही सोचता है कि – ''अभी तो मैं पुरुषार्थी हूँ; मैं कोई सम्पूर्ण थोड़े ही बना हूँ, अभी मुझ में कोई-न-कोई तो कमी होगी ही।'' इस प्रकार उल्टा सोच कर वह अपनी सम्पूर्ण अवस्था को मानो और पीछे धकेल देता है। वह यह नहीं सोचता कि मुझे अब ही तो सम्पूर्ण बनने का लक्ष्य सामने रख कर पूरा पुरुषार्थ करना है, वरना सम्पूर्ण बनने के लिए कोई दूसरा समय थोड़े ही आयेगा? पुनश्च, पुरुषार्थी का अर्थ ''भूल-चूक करने वाला'' या ''अलबेला'' (Non-serious) व्यक्ति थोड़े ही होता है? सच्चा पुरुषार्थी तो वह है जिसे एक बार जो भूल बताई जाय, वह दोबारा न करे, अथवा जो इशारे से ही अपनी कमी को समझकर उसे पूरा करने के पुरुषार्थ में पूरी तरह लग जाये। 'पुरुषार्थ' (पुरुष-अर्थ) का तो भाव ही है – ''आत्मा के लिए'' अथवा 'आत्मा का हित'! जिसे आत्मा का कल्याण सदा ध्यान में रहता है अथवा जो प्रकृति से अनासक्त होकर सदा पुरुषत्व अर्थात् आत्मानिश्चय में रहता है, वही तो पुरुषार्थी है। जो आत्मा को या आत्मा के हित को भूलकर प्रकृति की देह में फँस जाता है वह पुरुषार्थी कैसा? क्या उसे 'पुरुषार्थी' कहना चाहिए जो शिवबाबा की आज्ञा उल्लंघन करें? शिवबाबा जो आज्ञा देते हैं, यह हम पुरुषों (आत्माओं) के कल्याणार्थ ही तो है और वह यह समझकर ही तो दी जाती है कि हम व्यापार या व्यवसाय करने वाले पुरुष हैं। तभी तो शिवबाबा हमें केवल आठ ही घण्टे ईश्वरीय याद में रहने के लिए कहते हैं, न कि 16 घण्टे। क्या शिवबाबा नहीं जानते कि व्यापार या दफ्तर का कार्य या घर का कार्य करना होता

है? यदि यह सब जानते हुए भी वे हमें आठ ही घण्टे याद में रहने के लिए कहते हैं और फिर भी हम नहीं रहते तो इसका अर्थ यह हुआ कि या तो हम ऐसा मानते हैं कि हम शिवबाबा से भी अधिक समझदार हैं या हम इतने अलबेले हैं कि हमें उनकी आज्ञा अथवा अपने भविष्य की परवाह नहीं। अत: अब 'पुरुषार्थी' के भी वास्तविक अर्थ को जानकर हमें ठीक पुरुषार्थ करना चाहिए।

4. रीस करते हैं, रेस (Race) नहीं करते

कई बार मनुष्य देखता है कि उससे अधिक मान्यता-प्राप्त ज्ञानवान व्यक्ति में, जिसको ज्ञान क्षेत्र में 'महारथी' माना जाता है, उसमें भी फलाँ-फलाँ कमी है। वह भी आठ घण्टे ईश्वरीय याद रूपी यात्रा में नहीं रह पाता। तो वह सोचता है कि "मैं तो ज्ञान-क्षेत्र में उससे छोटा हूँ अथवा पीछे आने वालों में से हूँ, अत: यदि मुझमें फलाँ कमी है तो क्या बात है?" वह कहता है कि – "बड़े भी तो ऐसा करते हैं, हम तो अभी छोटे हैं, हमने यदि ऐसा किया तो फिर क्या हुआ?" वह यह नहीं सोचता कि बड़ों में बड़ाई इस बात की नहीं कि उनमें यह कमी है बल्कि जिस बात में वे बड़े हैं, उसी से उनकी बड़ाई है। जिस बात की उनमें कमी है, उनमें तो वे भी छोटे हैं और उसे तो वे भी निकालने की कोशिश कर रहे हैं तो जिस बुराई को वे भी छोड़ने की कोशिश कर रहे हैं अथवा जिस कमी के कारण उनमें भी अभी छोटापन है, उसे देखकर मुझे स्वयं से उसे निकाल देना चाहिए, उसके बारे में और ही अलबेला थोड़े बनना चाहिये? जबकि बड़ों में भी यह कमी अथवा बुराई हमारी आँखों में खटकती है तो हममें यदि यह रहेगी तो दूसरों को भी तो हमारी यह कमी अखरेगी? फिर, क्या हममें दूसरों की बुराई का अनुकरण (Following) करके अपना रजिस्टर खराब करना है, या हमें अपने दैवी माता-पिता, जो कि हमसे हैं ही आगे,

उन्हें देखना है तथा निराकार परमप्रिय परमपिता परमात्मा शिव, जो ही एकमात्र सम्पूर्ण आत्मा हैं, उन्हें देखकर अपने पुरुषार्थ को आगे बढ़ाना है? अपने से अधिक मान्यता-प्राप्त व्यक्तियों से अथवा बड़ों से हमें क्या ग्रहण करना है – बुराई या बड़ाई? यदि हमें उनसे भी कोई अच्छाई ही लेकर अपनी कलाओं को बढ़ाना है तो हमें उनकी बुराई देखनी ही नहीं चाहिए बल्कि उनसे भी रेस (Race) करके आगे बढ़ने का ही शुभ संकल्प मन में रखना चाहिए।

इसी प्रकार, जहाँ तक ईश्वरीय स्मृति का तथा अव्यक्त अवस्था को धारण करने का प्रश्न है, उनमें भी हमें अपने व्यक्तिगत (Individual) पुरुषार्थ पर सदा ध्यान देना चाहिए और अपने रजिस्टर को सदा सामने रखना चाहिए। हमें सदा ईश्वरीय याद का अपना चार्ट बढ़ाने के पुरुषार्थ में लगे रहना चाहिए और दूसरों को भी नम्रता-पूर्वक इस बारे में सचेत करना चाहिये, न कि उनको घाटा करते देख अपना ही घाटा करना चाहिए।

5. मेरी नींव तो ठीक है, समय आने पर सामना कर लूँगा

कई बार मनुष्य यह सोचता है कि – "मेरी बुद्धि में ज्ञान की नींव तो ठीक है और मज़बूत है, मैं ज्ञान के सभी राजों को समझ तो गया ही हूँ, मैं सब कायदे-कानून जानता तो हूँ ही, समय आने पर मैं सब ठीक कर लूँगा और अपनी कमी भर लूँगा।" वास्तव में यह भी मनुष्य का उल्टा संकल्प है। कमी को भरने का कौन सा समय आएगा? कौन-सी घड़ी का हमें इन्तजार है? जो घड़ी गुजर गई क्या वह फिर कभी आयेगी? क्या हमें अपने जीवन की घड़ियों पर भरोसा है? भला बताओ तो हमारे जीवन की कितनी घड़ियाँ बाकी हैं? यदि आज हमारे प्राण निकल जायें, किसी दुर्घटना से हमें देह त्यागनी पड़े तो हमारी क्या गति होगी?

फिर, इस संगमयुगी जीवन से हम जितने समय से लेकर पवित्र रह रहे होंगे, जितना अधिक समय से हम दिव्य नियमों का पालन करते आए होंगे, उस समय का भी तो हमें फल मिलेगा। ऐसा थोड़े ही है कि जो दस वर्ष से पवित्र रहा होगा और जो आज से पवित्र रहने लगेगा, वे दोनों बराबर हैं? जिसने दस वर्षों में विभिन्न परिस्थितियों का ईश्वरीय नियम-पूर्वक सामना किया होगा और विघ्नों को ज्ञान-युक्त रीति से पार किया होगा और जो आज से ही पुरुषार्थ कर रहा है, क्या उन दोनों को एक ही फल मिलेगा? नहीं। अत: यह कहना कि "हमारी बुद्धि में ज्ञान का बीज तो पड़ा ही हुआ है, हमारी निश्चय की नींव तो मज़बूत है, हमारी अमुक-अमुक परिस्थिति ठीक हो जाय तो हम पुरुषार्थ करने लग पड़ेंगे" यह उल्टा वचन है। बहुत काल से अभ्यास करते आने पर ही योग की अवस्था भी परिपक्व होती है वरना अवस्था कच्ची रह जाएगी और सिर पर विनाशकाल आ पहुँचेगा, तब कुछ भी न बन सकेगा।

6. केवल मैं थोड़े ही हूँ, और भी तो हैं!

अलबेलेपन के कारण मनुष्य यह भी सोच लेता है कि – "अकेला मैं थोड़े ही ऐसा हूँ, ऐसे तो बहुत से हैं। तो जो उनका हाल होगा, वह मेरा भी होगा। अभी सभी की अवस्था को देखते हुए मैं समझता हूँ कि अभी पुरुषार्थ के लिए कुछ समय रहा हुआ है।" इस प्रकार सोच कर मनुष्य अपनी जिम्मेवारी को हल्का कर देता है। 'अलबेलेपन' का भावार्थ ही वास्तव में "जिम्मेवारी को न समझना" है। जब मनुष्य को कोई ईश्वरीय सेवा सौंपी जाती है तब भी वह यह कहता है कि – "मेरे ऊपर यह कार्य क्यों रखा गया?" वह यह नहीं सोचता कि "सबने मुझमें ही इस कार्य के लिए आशा रखी है।" अथवा "चलो इससे मेरा भाग्य ऊँचा बन जाएगा," बल्कि वह मायावी संकल्प लाकर अपनी बुद्धि को भी

खराब करता है और भाग्य को भी बिगाड़ देता है। वह आलस्य में संकल्प को न पहचान कर मिलते हुए भाग्य को भी टाल देता है।

इसी प्रकार, मनुष्य यह नहीं सोचता कि – आठ घण्टे याद की यात्रा करने अथवा अव्यक्त अवस्था में टिकने का जो शिवबाबा का आदेश है, वह व्यक्तिगत (Individually) मेरे लिए है। दूसरे उसका पालन करते हैं या नहीं करते, इस बात की देखरेख करना मेरा काम नहीं हैं। मैं क्यों दूसरों की नकल करूँ, क्यों न मैं इस आज्ञा का पालन करके दिखाऊँ ताकि दूसरे मुझसे गुण लें?'' इस प्रकार यदि वह ठीक तरह से सोचे तो अपने अलबेलेपन और आलस्य के संस्कार को निकाल कर बहुत ही उन्नति कर सकता है।

इसी प्रकार, ईश्वरीय सेवा के बारे में भी मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि –''अच्छा ये जो कुछ कर रहे हैं; इन्हें करने दो; मेरे ऊपर कोई जिम्मेवारी थोड़े ही है,'' या इन्होंने मुझसे राय थोड़े ही ली है, या मुझसे कहा थोड़े ही है?'' मनुष्य को समझना चाहिए कि जो व्यक्ति किसी के कहने से करता है उसे आधा फल मिलता है, उसका आधा फल कहने वाले को मिल जाता है। पुनश्च, इसमें किसी के कहने की क्या बात है, वह – ''जो करेगा सो पायेगा'' की बात है। करने का निमन्त्रण तो सभी को है ही। करना तो अपना कर्त्तव्य ही है। हाँ, बड़ों को सम्मान देकर और उनकी स्वीकृति से करना है परन्तु यह कहना कि – ''जो कुछ ये करेंगे मैं उस सब में राजी हूँ,'' यह तो अन्दर नाराज़गी का होना प्रकट करता है। नाराज़ होना अथवा रूठना तो गोया अपनी तकदीर से रूठना है। हरेक को अपना भाग्य बनाने का विचार करना चाहिए और उसके लिए चान्स (Chance) लेना चाहिए न कि रूठ कर एक किनारे पर बैठ जाना

चाहिए या दूसरों के स्वभाव से टकराकर आलस्य और अलबेलेपन का हार गले में डाल लेना चाहिए।

7. ''यह सहज मार्ग है'' – इसका सही अर्थ

शिवबाबा ने हमें अनेक बार समझाया है कि यह राजयोग मार्ग 'सहज' है। कई लोग कम समझ के कारण इस कथन का यह भाव ले लेते हैं कि हमें किसी भी कठिनाई में पड़ना ही नहीं चाहिए। यदि हमें कोई ईश्वरीय सेवा करनी पड़े जिसमें कि भूख-प्यास सहन करना पड़े, नींद को थोड़ा त्यागना पड़े, आर्थिक कठिनाईयों से गुज़रना पड़े तथा सांसारिक सुविधाओं के बिना कुछ समय काम करना पड़े अथवा किसी थकावट की अवस्था में भी कुछ कार्य करना पड़े तो वे समझते हैं कि कार्य ही नहीं करना है क्योंकि ''हमारा तो सहज मार्ग है, हमारा कोई हठयोग मार्ग थोड़े ही है।'' इसी तरह ईश्वरीय याद की यात्रा के बारे में भी वे सोचते हैं कि इसी प्रकार से अवकाश और सुविधा मिले, तब ही वह सम्भव है परन्तु वास्तव में कठिनाईयों का सामना करने से ही आत्मा में बल भरता है। सहज मार्ग का तो भाव है कि ईश्वरीय याद के लिए हमें जानबूझ कर भूखे नहीं रहना या प्राणायाम तथा हठ क्रियाएं नहीं करनी, परन्तु इसका यह तो अर्थ नहीं कि सेवा के कार्यों से आराम-पसन्द बन जाना है? यदि हम यहाँ ही सुख-सुविधायें और आराम भोगते जायेंगे तो भविष्य में हमें प्रारब्ध क्या मिलेगी? यहाँ तो हमें सादा और मेहनती जीवन व्यतीत करना है। इस बात को ध्यान में रखते हुए हमें हर हालत में ईश्वरीय याद की यात्रा में रहने का पुरुषार्थ करना चाहिए। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि अमुक समस्या सुलझेगी, तभी हम ईश्वरीय याद में रह सकेंगे अथवा अमुक सुविधा मिलेगी तभी ईश्वरीय सेवा हो सकेगी। ऐसा सोचना भी अलबेलेपन और आलस्य का ही सूक्ष्म रूप है।

यदि शरीर को कोई रोग है या अन्य कोई कारण है तो भी कोशिश करनी चाहिए कि हम ईश्वरीय याद की यात्रा पर रहें और तन से नहीं तो मन से, धन से, वचन से और थोड़ा कुछ कर्म से भी ईश्वरीय सेवा करते ही रहें क्योंकि क्या पता है आगे चलकर कोई रोग, कमज़ोरी, दुर्घटना या कोई कठिनाई नहीं होगी? हर प्रकार से अपने ही जीवन को सफ़ल करने का ही यत्न करना चाहिए। अब अलबेला बनने तथा आलस्य में पड़े रहने का समय नहीं है, नहीं है।

8. हिम्मत मत हारो, फिर पुरुषार्थ करो।

कई बार ऐसा भी होता है कि मनुष्य किसी विचार को जीतने या संस्कार को मिटाने का पुरुषार्थ करता है, परन्तु सफ़ल नहीं होता। तब निराश और उदास होने के बाद उसमें आलस्य और अलबेलापन आ जाता है। परन्तु ऐसा होना नहीं चाहिए। इस विषय में राजा राबर्ट ब्रूस की कहानी प्रसिद्ध है जिसने मकड़ी को कई बार गिरने के बाद फिर चढ़ने का पुरुषार्थ करते देखा। अब शिवबाबा कहते हैं कि आप भी हिम्मत मत हारो। हाथ में ज्ञान की तलवार और ड्रामा की ढाल लेकर फिर पुरुषार्थ करो तो अवश्य ही माया पर आपकी विजय होगी। अब जबकि हम शिवबाबा के बने हैं तो सफ़लता तो हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है।

9. माया के संकल्प-विकल्प

मनुष्य के मन में कई प्रकार के जो संकल्प-विकल्प उठते हैं, वे भी उसमें उमंग-उल्लास को कम कर देते हैं, उसे सुस्त बना देते हैं, उसमें निराशा का भाव पैदा करके अलग-थलग बैठ जाने का भाव पैदा कर देते हैं। तब मनुष्य सोचने लगता है क्या पुरुषार्थ करना है! ऐसी अवस्था में निम्नलिखित युक्तियों को अपनाना चाहिए –

1. मैं किसका बना हूँ? –

चलते-फिरते, उठते-बैठते यह याद रखना चाहिए कि सारी दुनिया

जिसे ढूँढती या याद करती है, उसके साथ अब मेरा प्रैक्टीकल रीति पिता-पुत्र का सम्बन्ध है। अब मैं इतना ऊँचे बाप का बेटा बना हूँ। इस प्रकार, बुद्धि ऊपर की ओर जायेगी और देहभान से न्यारी रहेगी तथा सांसारिक बातों में नहीं फँसेगी। जिसके एक मिनट के दर्शन अथवा साक्षात्कार के लिए भक्त लोग सिर भी तली पर उतार कर रखने के लिए तैयार हो जाते हैं, वहीं हमें सहज ही परमपिता के रूप में प्राप्त हुआ है — क्या यह कोई कम बात है? करोड़ों मनुष्य तो प्रभु को मानते और पहचानते ही नहीं हैं, अन्य करोड़ों जो मानते हैं, वे भी उसे यथार्थ रीति जानते तथा पहचानते नहीं हैं। अब मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि मेरा डायरेक्ट सम्बन्ध उस परमपिता से जुटा है।

2. मेरा कितना ऊँचा पार्ट है –

अपने पार्ट को याद करने से भी मनुष्य में उमंग और उत्साह पैदा होता है। अत: मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि मैं तो भाग्यशाली हूँ क्योंकि स्वयं परमपिता परमात्मा के साथ और प्रजापिता ब्रह्मा के साथ मेरा पार्ट है। इस पुरुषोत्तम संगम-युग में मैं उन गिने-चुनों में से हूँ जिन्हें परमपिता परमात्मा का सही परिचय मिला है और जो ब्रह्मचर्यपूर्ण तथा योगाभ्यास का जीवन व्यतीत करते हैं!!

3. परमात्मा की कीर्ति –

भक्त लोग तो भगवान् का कीर्तन करते हैं परन्तु हमें मन ही मन में परमपिता परमात्मा शिव की कीर्ति करनी चाहिए। "शिवबाबा, आप तो सचमुच पतित-पावन हैं। आपने हमें माया के दलदल से निकाला है; आप तो सुख-शान्ति के दाता हैं, आपने हमारे जीवन में सुख का सार भरा है। शिवबाबा आपने हमारे जीवन को कमल-पुष्प के समान बनाया है....।" इस प्रकार शिवबाबा के गुण चिन्तन से भी बुद्धि खुलेगी और जीवन में

रस आएगा तथा उमंग आयेगी।

4. तू तो मेरी आँखों का नूर है –

भक्त लोग कहते हैं कि – ''भगवान की छवि तो हमारे नयनों में समाई हुई है। वह तो सदा हमारी आँखों के सामने हैं।'' वे तो भगवान की मूर्ति अथवा पार्थिव शरीर को सामने रखकर ऐसा कहते हैं। परन्तु अब जबकि हमें वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त हुआ तथा अनुभव हुआ है, हमें भी सदा गद्‌गद् होना चाहिए और यह सोच कर उसकी छवि को अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहिए कि ''वह तो हमारी आँखों का नूर है, वह हमसे अलग कैसे हो सकता है।'' अर्थात् हम उसे भूल कैसे सकते हैं?

5. स्वर्ग के दृश्य सामने लाना –

इसके अतिरिक्त हमें स्वर्ग के दृश्यों को भी सामने लाना चाहिए। हमारे मन में चित्र प्रगट होने चाहिएं कि हमारे ऐसे वहाँ महल होंगे, ऐसे बगीचे होंगे, ऐसे झरने होंगे, ऐसी वहाँ की शोभा होगी...ऐसे वहाँ हम खेला करेंगे, आदि-आदि। अब अल्प समय ही तो इस विश्व के महाविनाश में शेष रह गया है। अब तो स्वर्गिक सुख के दिन मानो आये कि आये। अत: अब तो उनके ही स्वप्न देखने चाहिए, नहीं, नहीं उनको ही मन पर लाना चाहिए। इससे भी बहुत खुशी आयेगी और आलस्य भाग जाएगा क्योंकि हम पुरुषार्थ करेंगे, तभी तो उस सृष्टि में जा सकेंगे वरना कैसे जायेंगे?

6. अब नहीं तो कभी नहीं –

मनुष्य का यह जो स्वभाव है कि वह आज की बात को कल पर टाल देता है और सोचता है कि अमुक परिस्थिति पार हो जाने पर अमुक कार्य अथवा पुरुषार्थ करूँगा – यह ग़लत है। हमें चाहिए कि हम सदा अपने

सामने ''अब नहीं तो कभी नहीं'' का नारा रखें। हम कल से लेकर योग लगायेंगे – ऐसा नहीं सोचना चाहिए बल्कि हम अभी से ही ईश्वरीय याद में स्थित होंगे – ऐसा विचार करना चाहिए। परिस्थितियों को स्व-स्थिति से ठीक करना है, न कि यह सोचना है कि परिस्थितियाँ ठीक होंगी तब स्व-स्थिति का अभ्यास करेंगे। यह नहीं सोचना चाहिए कि व्यवहार सिद्ध होगा तो हम परमार्थ में लगेंगे बल्कि यही सोचना चाहिए कि हम परमार्थ में लग जायेंगे तो व्यवहार में भी अवश्य ही ईश्वरीय सहायता मिलेगी।

इस प्रकार अब ज्ञान-मंथन करते हुए पुरुषार्थ में लग जाना चाहिए। शिवबाबा कहते हैं कि अब समय ऐसा आ गया है कि जितना समय व्यवहार-व्यापार करते हो, उससे भी अधिक समय ईश्वरीय याद तथा ईश्वरीय सेवा में दो। तथापि यदि ऐसा नहीं भी कर सकते तो कम-से-कम उतना समय तो अवश्य दो जितना समय कि व्यापार या धन्धा करते हो, वरना पीछे रह जाओगे और पछताना पड़ेगा!!

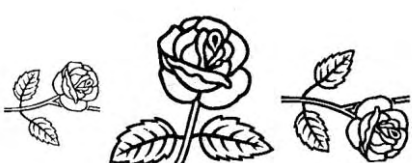

विचार-सागर मंथन और रूह-रिहान

परमपिता परमात्मा शिव ने अनेक बार कहा है – "बच्चो, एकान्त में बैठकर विचार-सागर का मंथन किया करो।" परमपिता शिव ने विचार-मंथन के लाभ बताते हुए कई बार समझाया है कि –"इससे (1) बुरे संकल्पों-विकल्पों से बचे रहोगे, क्योंकि बुद्धि और तरफ़ जाने की बजाय इस अमृत-मंथन में ही लगी रहेगी। (2) दूसरा खुशी बढ़ेगी, (3) रूहानी नशा चढ़ेगा, (4) उन्नति होगी, (5) दिव्य गुणों से आत्मा परिपक्व होगी, (6) आध्यात्मिक अवस्था ऊँची उठेगी और (7) दूसरों से भी फलक से अथवा जिगरी बात कर सकोगे और इसके फलस्वरूप पुराने संस्कार ढीले होते-होते मिट जायेंगे और उनका स्थान सतोगुणी संस्कार ले लेंगे।

जबकि विचार सागर-मंथन के इतने लाभ हैं तो क्यों न हमें नित्य-प्रति कुछ समय इस शुभ कार्य में लगाना चाहिए ताकि हमें अशुद्ध संकल्प करने का अवसर ही न मिले? ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करने से पहले तो हमारे पास इतने ऊँचे विचार ही न थे कि हम उनका मंथन करते। अब शिवबाबा ने ही हमें कल्याणकारी विचार दिये हैं जोकि मनुष्य के आचार और व्यवहार को बहुत ही ऊँचा उठाने वाले हैं और ज्ञान-सागर परमात्मा ने इतने विचार दिए हैं कि हमारी छोटी-सी बुद्धि में भी विचारों का एक छोटा-सा सागर बन गया है। अत: यह पुरुषोत्तम संगमयुग ही तो है जब इस विचार-सागर का मंथन (High-thinking) कर सकते हैं, इस प्रकार आत्मा में अच्छे संस्कारों को मजबूत कर सकते हैं? विचार ही तो आचार का तथा सुख-दु:ख का आधार है। अत: विचार उच्च हों।

विचार-सागर मंथन कैसे करें?

परन्तु प्रश्न उठता है कि हम विचार-सागर मंथन कैसे करें? विचार-सागर की रूप-रेखा अथवा विधि-विधान क्या होना चाहिये? विचार सागर-मंथन के विधि-विधान के बारे में कुछ संकेत तो हमें विचार-मंथन के ऊपर बताये फ़ायदे पर सोच करने से मिल जाता है। उदाहरण के तौर पर ऊपर विचार-मंथन का ये भी लाभ बताया गया है कि – ''खुशी का पारा चढ़ेगा।'' अब आप जानते हैं कि खुशी मुख्य रूप से दो कारणों से बढ़ती है – या तो किसी समस्या का हल हो जाने से और या कोई प्राप्ति होने से। अत: विचार-मंथन की एक रूप-रेखा तो यह है कि हम ईश्वरीय ज्ञान के किसी महावाक्य, सूत्र अथवा रहस्य को लेकर, इस दृष्टिकोण से उन पर विचार करें कि वह ज्ञान-बिन्दु (Point of Knowledge) समस्याओं को कैसे सुलझाता है अथवा उससे हमारे जीवन में हमें क्या प्राप्ति होती है। फिर, एक तो समस्यायें भी मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती हैं– एक जो हमारे व्यवहार से सम्बन्धित हों, दूसरी जो हमारे परमार्थ से सम्बन्धित हो, तीसरी जो समाज, देश अथवा लोक की हों। अत: कोई भी ज्ञान-बिन्दु लेकर हमें उसे इन तीन प्रकार की समस्याओं से सम्बन्धित करके देखना चाहिए। अब यह बात हम एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं:–

शिवबाबा की ज्ञान-मुरली में प्रतिदिन आने वाला एक मुख्य महावाक्य यह है कि – ''बच्चे, आत्माभिमानी अथवा देही निश्चय (Soul-conscious) बनो।'' लीजिए, अब हम इस पर अपना विचार दौड़ाना शुरू करते हैं और देखते हैं कि यह महावाक्य कैसे हमारी समस्याओं को सुलझाता है?

'आत्मा-निश्चय से व्यवहार कैसे सुधरता है?'

पहले हम अपने व्यवहार को लेते हैं। यदि हम अपने व्यवहार में

आत्मिक दृष्टि अपनाते हैं और स्वयं को 'आत्मा' निश्चय करके चलते हैं तो आप देखेंगे कि एक तो हमें थकावट नहीं होगी, दूसरे हमारी दृष्टि दूषित (Criminal) नहीं होगी, तीसरा हम विकारों एवं विकर्मों से भी बच जायेंगे, क्योंकि निराकारी स्थिति से मनुष्य निरंहकारी और निर्विकारी स्थिति को प्राप्त होता है। अत: स्वयं को देह से न्यारा 'आत्मा' निश्चय करने से हमें भी लोग दूसरे मनुष्यों से न्यारा अनुभव करेंगे और हम उन्हें प्यारे लगेंगे। इस प्रकार लोगों से हमारे व्यवहार में शान्ति, प्रेम, सद्भावना आदि रहेंगे। तो देख लीजिए, यह कितना अनमोल महावाक्य है! इससे हमारा सारा व्यवहार सुन्दर हो जाएगा और वर्तमान समय भी शान्तिदायक होगा तथा भविष्य भी सुखकारी होगा। इससे हमारा व्यवहार सुधरेगा, हमारे जीवन में शुभ परिवर्तन आयेगा, हम छल, कपट, लोभ, मोह आदि से बच जायेंगे और हमारे मन में एक प्रकार का उल्लास आयेगा तथा शक्ति बढ़ेगी। इस एक ही महावाक्य पर आचरण करने से हमारी अनेक चिन्ताएं, व्यथायें, वासनायें तथा वेदनायें शान्त हो जायेंगी और हम बिन्दु रूप आत्मा होकर आत्मिक सुख में रमण करना सीखेंगे।

'आत्म-निश्चय' का परमार्थ में महत्व

अब परमार्थ से इस महावाक्य का सम्बन्ध जोड़िये। यों तो हम भक्ति मार्ग में भी जप, तप, यज्ञ, पूजा, यात्रा, भक्ति आदि करते रहे, परन्तु आत्म-निष्ठ न होने के कारण अथवा आत्मिक दृष्टि न अपनाने के कारण हम निर्विकारी न बन सके और साधना-पथ पर आगे न बढ़ सके। प्रतिदिन हम प्रार्थना अथवा कीर्तन में यह तो कहते रहे कि – ''विषय-विकार मिटाओ पाप हरो देवा'' परन्तु हमारे विकार मिट न सके, कारण कि **सभी विकार पैदा होते हैं देह-अभिमान से और देह अभिमान को मिटाया जा सकता है – 'आत्मा-निश्चय' से, परन्तु हमने आत्मा-निश्चय का तो अभ्यास ही न किया।**

यद्यापि हम इतना तो जानते थे कि हम 'आत्मायें' हैं परन्तु हम चलते-फिरते, कार्य करते, स्वयं आत्मिक स्मृति में स्थित रहने का अभ्यास नहीं करते थे और जब भक्ति आदि करने बैठते थे तो भी स्वयं को देह से न्यारे, एक 'आत्मा' निश्चय करके नहीं बैठते थे। सभी पूजा, यज्ञ आदि हम देह-अभिमान में स्थित होकर करते थे। इसलिए न हमारे पिछले विकर्म दग्ध होते थे, न आगे के लिए हमसे छूटते थे, न ही हमें शान्ति मिलती थी, न ही हम ईश्वरीय स्मृति का भी स्थायी तथा यथार्थ रस ले सकते थे। बल्कि, बहुत पैसा खर्च करते हुए, जगह-जगह माथा टेकते हुए, स्थान-स्थान पर भटकते हुए, ग्रंथ-शास्त्र पढ़ते हुए, गुरु-गोसाइयों के होते हुए भी हम यही कहते थे कि हमारा मन चंचल है, हमारे मन में शान्ति नहीं है, हमारी निरन्तर आत्मिक उन्नति नहीं हो रही'', आदि-आदि। अब जबकि हम 'आत्मा' के स्वरूप में स्थित रहने का अभ्यास करते हैं तो बहुत शान्ति मिलती है क्योंकि आत्मा का तो स्वधर्म ही शान्ति है, हमारे जीवन में पवित्रता भी आती है और हम ईश्वरीय याद में भी टिक सकते हैं क्योंकि ईश्वर से हमारा नाता तो आत्मिक ही है न कि दैहिक। पहले जब हम देहभान में टिके रहते थे, तो हमारी याद का ताँता परमात्मा से जुड़ता ही न था। जैसे बिजली के दोनों तारों पर से रबड़ हटाकर दोनों को जोड़ने से बिजली की करेन्ट आती है, वैसे ही अब शरीर से न्यारी एक 'आत्मा' मानकर, बैठने से और परमपिता परमात्मा को भी निराकार, अर्थात् शरीर-रहित, सर्वश्रेष्ठ 'आत्मा' मानकर, बैठने से और परमपिता परमात्मा को भी निराकार, अर्थात् शरीर-रहित, सर्वश्रेष्ठ 'आत्मा' मानकर उससे याद द्वारा सम्बन्ध जोड़ने से आत्मा लाइट (प्रकाश) और माईट (शक्ति) का अनुभव करती है। अत: स्पष्ट है कि इस एक महावाक्य से परमार्थ में बहुत ही अन्तर पड़ जाता है, अर्थात् बहुत उन्नति होती है।

आत्माभिमानी बनने से देश, समाज अथवा लोक की समस्याओं का हल

अब देश अथवा समाज अथवा लोक की समस्या से इस महावाक्य का सम्बन्ध जोड़िये। देह-दृष्टि को छोड़कर आत्मिक दृष्टि अपनाने से हम सभी का भाई-भाई का नाता ठीक प्रकार से जुड़ सकता है। अतः आज भी हिन्दू-मुस्लिम, सिक्ख-ईसाई आदि में फूट है या गुजराती या महाराष्ट्रियन आदि-आदि के रूप में मतभेद और कलह-क्लेश हैं, वे परस्पर आत्मिक दृष्टि अपनाने से ही समाप्त हो सकते हैं क्योंकि आत्मिक रूप से तो सभी एक देश (परमधाम) से आये हैं, सभी एक ही पिता 'परम-आत्मा' की सन्तति होने से भाई-भाई हैं, सभी का आत्मिक धर्म, (वास्तविक लक्षण) पवित्रता और शान्ति है और सभी की भाषा आत्मिक साइलेन्स (Silence) है। आत्मिक दृष्टि-कोण को अपनाने से ही ब्रह्मचर्य में रहा जा सकता है और, इस प्रकार, संतति-नियन्त्रण (Birth Control) हो सकता है। आज संसार में भ्रष्टाचार, मिलावट, हिंसा आदि जो सभी दुःख के कारण हैं, उनका निवारण इस महावाक्य के अनुसार परस्पर बरतने से हो सकता है।

खुशी का पारा चढ़ जाएगा

उपर्युक्त प्रकार से जब आप विचार-सागर मंथन करोगे तो आपकी खुशी का पारा चढ़ेगा क्योंकि आप सोचेंगे कि – 'अहा, शिवबाबा ने मुझे कैसी अनमोल युक्ति बताई है!' यह तो व्यक्ति और समाज का कायाकल्प करने वाली परम औषधि है। मैं बड़ा सौभाग्यशाली हूँ कि मेरी बुद्धि में यह बात बैठ गई है, अब मेरा तो अवश्य ही व्यवहार और परमार्थ दोनों सिद्ध हो जायेंगे ओर अब दूसरों को भी इस महावाक्य का परिचय देकर मैं लोक-कल्याणार्थ यह रूहानी सेवा करुँगा।

रूहानी नशा

स्वाभाविक बात यह है कि जब इस प्रकार आप 'आत्मा-निश्चय' के लाभ जानेंगे तो आप स्वयं भी आत्मा-निश्चय में स्थित होने के अभ्यास में लग जायेंगे और आपको रूहानी नशा भी चढ़ेगा। जब आप विचार-मंथन करके देखेंगे कि इस महावाक्य से तो सभी समस्याएं सहज बिना कुछ खर्च किए ही हल होती हैं और इससे अनमोल शान्ति प्राप्त होती है और भविष्य में भी अपार सुख मिलता है तो स्वाभाविक बात है कि अभी भी खुशी बढ़ेगी ही और 'रूह' में स्थित होने से रूहानी नशा भी चढ़ेगा। क्योंकि रूह तो परमात्मा की सन्तान है अत: मनुष्य स्वयं को परमात्मा की सन्तान मान कर प्रफुल्लित होगा।

इस लेख के शुरू में हमने विचार सागर-मंथन के सात मुख्य फ़ायदों का उल्लेख किया था। उनमें दो ('खुशी होगी' और 'रूहानी नशा चढ़ेगा') का स्पष्टीकरण कर चुके हैं। व्यवहार, परमार्थ तथा देश की समस्याओं को ईश्वरीय ज्ञान के प्वाइंट कैसे हल करते हैं? – इस पर विचार करने से खुशी बढ़ेगी और रूहानी नशा भी चढ़ेगा। हमने लेख के आरम्भ में तीसरा लाभ यह बताया था कि – ''उन्नति होगी।''

अब आप जानते हैं कि हमारी उन्नति के लिए चार ही विषय शिवबाबा ने हमें बंतायें हैं – ज्ञान, योग, दिव्य गुणों की धारणा और ईश्वरीय सेवा। अत: विचार सागर-मंथन की रूप-रेखा यह है कि जिस प्वाइंट पर आपने विचार-सागर का मंथन शुरू किया उसका सम्बन्ध व्यवहार, परमार्थ तथा देश की समस्याओं से जोड़ने के बाद आप ज्ञान, योग, दिव्य गुणों की धारणा तथा ईश्वरीय सेवा के साथ जोड़ें।

समस्त ज्ञान में 'आत्मा-निश्चय' का महत्व

जब आपका विचार चलेगा कि शिवबाबा ने यह जो आदेश दिया है कि – ''आत्मा निश्चय में स्थित होवो'', यह तो सारे ज्ञान की नींव है क्योंकि रूहानी ज्ञान की तो शुरूआत ही आत्मा से होती है। यदि हम स्वयं को 'आत्मा' न मानकर 'देह' मानेंगे तब तो ज्ञान का आधार ही नष्ट हो जाएगा। यदि आत्मा ही नहीं है तो पुनर्जन्म कैसा और किसका? यदि आत्मा ही नहीं है तो कर्मों का लेखा ही साथ नहीं चलता, तो फिर हम अच्छे कर्म क्यों करें और बुरे कर्मों से क्यों बचें? यदि आत्मा ही नहीं तो 'महात्मा' और 'परमात्मा' का भी अस्तित्व नहीं ठहरा। आत्मा को न मानने से हम यह भी नहीं जान सकते कि पहले हमारी क्या अवस्था थी, हम कब और कैसे पतित बने और अब पावन बनने से हमारी सद्गति कैसे होगी? अत: 'आत्मा-निश्चय' का बहुत ही महत्व हैं क्योंकि इसके बिना तो मुक्ति और जीवनमुक्ति, योग, दिव्यगुण आदि सभी की चर्चा निरर्थक हो जाती है। पुनश्च, 'ज्ञान' का अर्थ है – जो चीज़ जैसी है, उसे वैसे ही जानना। अत: सबसे पहले तो हमें यह जानना चाहिए कि सारा दिन तो हम हज़ार बार 'मैं-मैं' शब्द का प्रयोग करते हैं, यह 'मैं' शब्द किसका वाचक है? मैं देह हूँ या आत्मा? अपने आपको सही तौर पर जाने बिना बाकी सब-कुछ भी कैसे जाना जा सकेगा? तो इस प्रकार से, पहले स्वयं को 'आत्मा' निश्चय करने की आवश्यकता है। यदि ज्ञानवान व्यक्ति स्वयं को 'आत्मा' निश्चय नहीं करता तो ज्ञानी और अज्ञानी मनुष्य में भेद नहीं रह जाता।

योग में आत्मा-निश्चय का महत्व

'योग' का तो भावार्थ ही है – 'पिता परमात्मा की स्मृति में स्थित।' 'परमात्मा' शब्द 'परम-आत्मा' से बना है और परमात्मा को आत्मिक नाते

से 'परमपिता' कहा गया है, न कि किसी शारीरिक नाते से अत: आत्मा-निश्चय में स्थित होने के बिना तो योग का आरम्भ ही नहीं होता। दिन भर के व्यवहार से यदि मनुष्य 'आत्मा' निश्चय बुद्धि होकर न चले तो योग-अभ्यास के समय भी न तो उसका मन एकाग्र होता है, न ही उसे ईश्वरीय स्मृति का रस आता है। जब मनुष्य यह निश्चय करता है कि – ''मैं इस देह से भिन्न एक ज्योति-बिन्दु आत्मा हूँ, मैं परमधाम अथवा ब्रह्मलोक से इस सृष्टि मंच पर आया हूँ...'' तभी वह योग की सीढ़ी पर चढ़ता है। अब तक लोग या तो हठ योग करते आये हैं, या वे देहधारी विष्णु-शंकर, राम, कृष्ण, ईसा, बुद्ध आदि को याद करते रहे हैं, या वे देह-धारी देवी-देवताओं की भक्ति-पूजा में लगे रहे हैं। अत: परमपिता परमात्मा शिव ने सबसे मुख्य यही तो अनमोल रहस्य समझाया है कि – ''आप देह नहीं, न ही 'परमात्मा', न ही कोई देहधारी बल्कि आप भी ज्योति-बिन्दु आत्मा हैं और भगवान् भी परम 'आत्मा' है।'' अत: अब स्वयं को भी आत्मा निश्चय करना तथा भगवान् को भी परम 'आत्मा' निश्चय करना ही तो सच्चा योग है। इस प्रकार, विचार करने से योग के विषय (Subject) में भी हमारी उन्नति होगी।

दिव्य गुणों की धारणा और 'आत्मा-निश्चय'

दिव्य गुणों की धारणा तो होती ही आत्माभिमानी बनने से है। सब गुणों का भण्डार तो परमात्मा ही है। जब हम आत्मा के रूप में स्थित होते हैं तो परमपिता परमात्मा की स्मृति अवश्य आती है और ईश्वरीय स्मृति से मधुरता, प्रेम, शीतलता, अन्तर्मुखता, सहनशीलता, अडोलता, निर्भयता आदि गुणों की अवश्य ही धारणा होती है। आत्मा तो है ही देह से भिन्न निराकार। तो निराकारी स्थिति में रहने से निरहंकारिता की स्थिति होती है और निरहंकारिता तो सभी गुणों की खान है। तो स्पष्ट है कि दिव्य

गुणों रूपी वृक्ष का बीज 'आत्मा-निश्चय' है और आसुरी लक्षणों का बीज़ देह-अभिमान है। अत: 'आत्मा-निश्चय' में स्थित होना ज़रूरी है क्योंकि उससे ही दिव्य गुणों के विषय में भी हमारी उन्नति होगी और हम मनुष्य से देवता बनेंगे। जीवनमुक्ति देवपद प्राप्त करने की एक ही सीढ़ी है — **आत्म-चिन्तन** और पतित होने की सीढ़ी है — **पर चिन्तन।** पर-चिन्तन में देह चिन्तन अथवा देह-अभिमान भी सम्मिलित है क्योंकि देह भी तो 'पर' है, हम देह तो नहीं हैं।

ईश्वरीय सेवा में आत्माभिमानी

ईश्वरीय सेवा क्या है? ईश्वरीय सेवा है — लोगों को ईश्वर का परिचय देना, उन्हें जीवन का लक्ष्य बताना, पवित्र बनने तथा दिव्य गुणों की धारणा का पाठ पढ़ाना और उन्हें आत्माभिमानी बनाना। यदि हम स्वयं ही आत्माभिमानी नहीं बनेंगे तो कोरी पण्डिताई से श्रोता भी आत्मा-अभिमानी नहीं बनेंगे बल्कि वे भी सुनी को अनसुनी कर देंगे। स्वयं 'आत्म-निश्चय' में स्थित होकर यदि हम दृष्टि देंगे और आत्मा-भाव में टिक पायेंगे तो वे भी आत्मा-स्वरूप में स्थित होकर शान्ति और पवित्रता का लाभ लेंगे। परमपिता परमात्मा से अपनी बुद्धि का नाता तोड़कर यदि हम दूसरों को ज्ञान सुनायेंगे तो वह उन पर कुछ प्रभाव ही नहीं करेगा, वह ज्ञान उन्हें अच्छा लगने पर भी उनमें धारण नहीं होगा। अत: अपनी और दूसरों की उन्नति के लिए भी ज़रूरी है कि हम ''आत्मा-निश्चय'' में स्थित हों।

इस प्रकार हमने ईश्वरीय महावाक्य (बच्चे आत्मा-निश्चय बनो, देह-अभिमान को छोड़ो) को अपने चारों विषयों (Subject) के साथ जोड़ा तो देखा कि यह तो बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही गई है। इस महावाक्य को आचरण में लाये बिना तो हम अपनी पढ़ाई के चारों विषयों में कमज़ोर रह जायेंगे और कम अंक (Marks) लेकर पास होंगे अथवा हमारे विकर्म

दग्ध हुए बिना रह जायेंगे और हमें धर्मराजपुरी में सज़ायें खानी पड़ेंगी अथवा हम सर्वगुण सम्पन्न नहीं बन सकेंगे और हमारा देव-पद ऊँचा नहीं होगा ....आदि-आदि। तो ऐसा जब हम विचार-मंथन करेंगे, तब आत्मा-निश्चय बनने की आज्ञा का महत्व हमारे मन में और अधिक स्पष्ट होगा और हम इसका अभ्यास करने लगेंगे। अत: हमारी सर्वांगीण उन्नति भी होगी।

दिव्य गुणों की धारणा कैसे पक्की होगी और अवस्था कैसे बढ़ेगी?

जब कोई बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है, मनुष्य उसके महत्व के बारे में निश्चय-बुद्धि (Convinced) हो जाता है, तब वह बात उसके मन में ऐसी गहरी बैठ जाती है कि यह उसे आचरण में लाए बिना रह ही नहीं सकता। अत: जब हम किसी भी ज्ञान-बिन्दु (Point) को लेकर उस द्वारा सभी समस्याओं का हल होता देखेंगे, उसे अपने व्यवहार और परमार्थ के लिए हितकर एवं आवश्यक मानेंगे और उसे अपनी आध्यात्मिक पढ़ाई का एक महत्वपूर्ण अंग मानेंगे तो अवश्य ही हमारी यह धारणा बन जाएगी कि हम उसे अपने आचरण में लायें क्योंकि....उसके बिना न हमारी उन्नति है, न हमारा कल्याण। तो पहले जो हमारे लिए ज्ञान का एक प्वाइंट मात्र था, अब वह हमारा एक **संस्कार** अथवा **सहज-स्वभाव** बन जायेगा और उस प्वाइंट की हमारी बुद्धि में ऐसी तो पक्की धारणा हो जाएगी कि हमारे आगे चाहे कितनी कठिनाइयाँ क्यों न आयें, चाहे हमें कैसी भी परीक्षाओं से गुजरना पड़े, हम उस मान्यता से डिगेंगे नहीं, बल्कि हर मूल्य पर हम उसे आचरण में लायेंगे। 'आत्मनिश्चय' में स्थित होवो – इस ईश्वरीय महावाक्य पर हम विचार-मंथन कर रहे थे। विचार करते-करते जब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यही सभी समस्याओं का

एकमात्र हल है, यही सुख-शान्ति का एकमात्र साधन है, इसके बिना जीवन का कल्याण या उन्नति हो ही नहीं सकती, तो आप बताइये कि हम हर हालात में इसी मान्यता पर आचरण करने की कोशिश करेंगे न?

जब हम इसे आचरण में लाने का जोरदार पुरुषार्थ करने लग पड़ेंगे तो अवश्य ही हमारी आत्मिक अवस्था भी बढ़ेगी। हमारी अवस्था को बढ़ाने के पुरुषार्थ में बल लाने वाली चीज़ तो 'निश्चय' है। एक बात की अच्छाई में हमें जितना निश्चय होगा उतना ही अधिक हम उसे अपनायेंगे। एक बात को हम जितना जरूरी समझेंगे उतना ही उसकी धारणा के लिए हम तीव्र पुरुषार्थ करेंगे। तो जबकि विचार-सागर के मंथन से हमारा निश्चय भी दृढ़ हो जाता है और हम ज्ञान के किसी रहस्य का महत्वदर्शन भी कर पाते हैं तो निस्संदेह मंथन के फलस्वरूप हमारी आध्यात्मिक अवस्था भी बढ़ेगी ही। हाई थिंकिग (High-Thinking) अर्थात् उच्च विचार से हम हाई (उच्च) तो बनेंगे ही।

संकल्पों-विकल्पों से कैसे बचे रहेंगे?

यह तो हम पहले भी बता आये हैं कि यदि हमें एकान्त में बैठकर विचार-सागर मंथन की टेव पड़ जायेगी तो हम परिचन्तन से, दोष दर्शन से व्यर्थ चर्चा में पड़कर समय तथा शक्ति नष्ट करने से छूट जायेंगे। जबकि हमारी बुद्धि ज्ञान का रस लेने से अवकाश ही नहीं पायेगी तो उसमें व्यर्थ के संकल्प-विकल्प आयेंगे कहाँ से? अत: मन की परेशानी से, चंचलता से, और व्यर्थ के उधेड़बुन से बचने का तरीका ही है – **विचार-सागर का मंथन।** इससे यह लाभ होगा कि पहले जो हमारे मन में विकार बढ़ रहे थे, अब वे निर्जीव हो जायेंगे, हममें जो वासनाएं उठा करती थीं, वे निर्बल पड़ जायेंगी, और हममें जो संकल्प-तूफान लाया करते थे, अब वे क्षीण एवं शान्त हो जायेंगे। तो देख लीजिए कि विचार-

सागर मंथन से कितने लाभ हैं।

विचार रूपी गाड़ी की ब्रेक, बत्ती, डिप्पर आदि

ऊपर हम विचार-सागर मंथन की विधि और सिद्धि बता आये हैं। विचार चलाना एक मोटर गाड़ी चलाने की तरह है। यदि कोई मनुष्य मोटर गाड़ी को चला तो दे परन्तु यदि उसे ब्रेक लगाना या गाड़ी को मोड़ना न आता हो तो बताइये उस मनुष्य का तथा उसकी मोटर का क्या हाल होगा? जहाँ गाड़ी को मोड़ने का स्थान हो, यदि वहाँ वह गाड़ी को मोड़ न पाया तो उस पर कैसी बनेगी? यदि पीछे आती हुई किसी गाड़ी के बारे में जानना हो और वह गाड़ी में लगे शीशे का प्रयोग न जानता हो तो उसकी कैसी गति होगी?

अत: जबकि हम कहते भी हैं कि यह शरीर एक मोटर है और आत्मा उसका ड्रायवर है तो ड्रायवर को इन सबका प्रयोग भी तो पता होना चाहिए। कभी कोई मनुष्य बैठा तो विचार-सागर मंथन करने, अर्थात् किसी ज्ञान-बिन्दु को लेकर उस पर गवेषणा करने, परन्तु उसके पिछले खराब स्वभाव के कारण उसमें अशुद्ध विचार चलने के कारण यदि उसका मन उन अशुद्ध संकल्पों में ही बह जाये तो इस तरह से उसे लाभ की बजाय हानि हो जायेगी। अत: उस समय विचार प्रवाह को मोड़ने की अथवा अशुद्ध विचारों को ब्रेक लगाकर फिर शुद्ध विचारों को स्टार्ट (Start, शुरू) करने की जरूरत पड़ेगी। वरना तो एक्सीडेन्ट (Accident) अथवा दुर्घटना हो जायेगी अर्थात् मनुष्य का मन अशान्त हो जाएगा, मूड (Mood) बिगड़ जाएगा और स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा।

अत: यह जानने की जरूरत है कि हमारी मोटर गाड़ी की ब्रेक कौनसी है और हमें ब्रेक कब लगानी है, दूसरी बात गाड़ी में स्टीयरिंग

व्हील (Steering Wheel) कौन सा है और हमें उसे कहाँ और कब मोड़ना है, आदि-आदि।

'मन्मनाभव'! ही ब्रेक है

हमारी गाड़ी की ब्रेक है – 'मन्मनाभव' विचार-सागर मंथन करते-करते यदि हम देखें कि हमारा मन पर,-चिन्तन में या दोष-मनन में या देह-अभिमान अथवा अज्ञान की ओर जाने लगा है तो हमें 'मन्मनाभव' रूपी ब्रेक (Brake) लगानी चाहिए। हमें विचारों की गति को कम करके तथा रोककर मन को शिवबाबा की याद में टिका देना चाहिए और "मैं ज्योति-बिन्दु, शान्ति-स्वरूप आत्मा हूँ" – इस स्मृति में स्थित कर देना चाहिए तथा एकदम साइलेन्स (Silence) में चले जाना चाहिए तथा सृष्टि रूपी ड्रामा की भावी भी हमारी इस गाड़ी की हैंड ब्रेक है। जब हमारा विचार इस बात पर अधिक चल निकलता है कि फलाँ बात होनी नहीं चाहिए थी, वह क्यों हुई? फलाँ बात ऐसी होती तो अच्छा था...फलाँ व्यक्ति या परिस्थिति मुझे पसन्द नहीं" आदि-आदि, तब ऊपर बताई 'ड्रामा' की प्वाइंट को ब्रेक के तौर पर इस्तेमाल करना चाहिए, अर्थात् यह सोचना चाहिए कि – "जो इस सृष्टि रूपी ड्रामा में होना था सो ही हुआ है", अब बीती को बिसार कर आगे की बात सोचनी है...।"

हमारी इस गाड़ी की ब्रेक का तो पता चला परन्तु इसका स्टार्टर (Starter), इसे चलाने वाला कल-पुर्जा कौन-सा है? वह है – निश्चय। जैसा हमारा निश्चय होगा वैसी हमारी गाड़ी चलेगी। हमारा निश्चय ठीक हो तो गाड़ी ठीक चलेगी, वरना तो धक्के से, अर्थात् दूसरों के धक्के से ही चल पायेगी।

हमारी गाड़ी का पेट्रोल है – **हिम्मत और साहस।** यदि हिम्मत और साहस नहीं रहेंगे तो गाड़ी रुक जाएगी, पुरुषार्थ नहीं चलेगा। अथवा ज्ञान

ही हमारी गाड़ी का पेट्रोल है। यदि ज्ञान-रूपी पेट्रोल में कचरा मिला हुआ होगा, मनुष्य-मत मिली हुई होगी तो भी गाड़ी नहीं चलेगी, विचार-सागर मंथन नहीं हो सकेगा।

हमारा मार्ग है ज्ञान-योग। इस मार्ग अथवा पटरी से यदि हमारे विचार-सागर की गाड़ी उतरने लगे तो उसे फिर ऊपर चढ़ा लेना चाहिए और यदि अज्ञानता तथा देह-अभिमान की और हमारा मंथन जाने लगे तो उसे मोड़कर उस मार्ग या सन्मार्ग पर ले जाना चाहिए।

हमारी गाड़ी में आगे की लाईट है – प्रजापिता ब्रह्मा और जगदम्बा सरस्वती। उन्होंने जैसे जीवन हमारे सामने व्यतीत किया है, जो रास्ता हमें दिखाया है, हमारे मार्ग पर जो प्रकाश डाला है उसका अनुकरण करते हुए हमें अपने जीवन को तथा अपने विचार-सागर मंथन की गाड़ी को चलाना है।

हमारी गाड़ी के पीछे की लाइट या डिप्पर है – हमारी धारणाएं अथवा गुण। इन्होंने ही हमारे पीछे प्रकाश छोड़ना है और दूसरों को सावधान करना है। हमारे पीछे आने वालों को इसी से सावधानी मिलती है। अत: हम विचार-मंथन में यह ख्याल रखें कि पीछे की लाइट को हमने जला रखा है या नहीं।

हमारी गाड़ी का शीशा (Mirror) है – सृष्टि-नाटक के आदि-मध्य-अन्त का ज्ञान, यह ज्ञान रूपी शीशा ही आत्मा रूपी ड्राइवर की तीसरी आँख है। इसी द्वारा ही हम पीछे आने वालों को भी देख सकते हैं और आगे निकलने वालों को भी और स्वयं को सुरक्षा से चला सकते हैं।

हमारी मंजिल अथवा हमारा लक्षित स्थान है – मुक्ति और जीवन-मुक्ति, न कि परमात्मा में लीन होना या परमात्मा बन जाना। आत्मा का परमात्मा में लीन होना सम्भव माना तो गोया ख्याली पुलाव पकाना है।

आत्मा तो अविनाशी है और परमात्मा भी अनादि और अविनाशी है। एक का दूसरे में लीन होना असम्भव है।

सो कहने का भाव यह है कि विचार-सागर मंथन की गाड़ी शुरू करने से पहले आत्मा रूपी ड्राइवर को आगे की लाईट और पीछे की लाइट को देख लेना चाहिये और फिर ब्रेक, शीशा (mirror) आदि का ठीक प्रयोग करना चाहिए और अपनी मंजिल तथा मार्ग का ध्यान रखते हुए उसे उल्टी तरफ नहीं जाने देना चाहिए, बल्कि मोड़कर ठीक मार्ग पर ले जाना चाहिए। यदि हम इन सभी का प्रयोग करते हुए विचार-सागर का मंथन करेंगे तो निश्चय ही हमें बड़ी खुशी होगी, बल मिलेगा, धारणा परिपक्व होगी, अवस्था बढ़ेगी और हमारे मन में उल्टे संकल्प-विकल्प भी नहीं चलेंगे और हमारे पुराने संस्कार भी बदल जायेंगे।